पर्यावरण

समझ़, स्नेह और सुरक्षा

डॉ. स्कन्द शुक्ल

ई-प्रकाशन: 2019

आवरण व सभी चित्र इन्टरनेट से साभार.

लेखक

डॉ. स्कन्द शुक्ल

22 सितम्बर 1979 को राजापुर, बान्दा में जन्म. वर्तमान में लखनऊ में गठिया-रोग विशेषज्ञ के रूप में कार्यरत. वृत्ति से चिकित्सक होने के कारण लोकक-ष्ट और उसके निवारण से सहज जुड़ाव. साहित्य के प्रति गहन अनुराग आरम्भ से. अनेक कविताएँपत्र-कहानियाँ विभिन्न पत्र-िकाओं में प्रकाशित. साथ ही दो उपन्यास 'परमारथ के कारने' और 'अधूरी औरत' भी. सामाजिक मीडिया पर भी अनेकानेक विज्ञान जानकारियों के माध्यम से-सम्बन्धी लेखों-समाज-स्वास्थ्य-वैज्ञानिक चेतना के प्रचार-प्रसार में सक्रिय.

(**साभार**: जानकी पुल)

जल चेतना का दारिद्र्य

रहीम से लेकर राजेन्द्र सिंह तक सभी अलग-अलग ढब और ढंग से एक ही बात कहते आये: पानी राखिए, बिन पानी सब सून!

भारत अपने पेयजल-संकट के गम्भीर दौर में प्रवेश कर चुका है. कारण कई हैं. अंकगणित के अनुसार यद्यपि अभी भी कुदरत आसमान से भारत को आवश्यकता से अधिक जल दे रही है, लेकिन सरकारों व जनता को उसकी बरबादी की सुधि नहीं.

केन्द्रीय जल आयोग के अनुसार भारत को अधिकतम तीन हज़ार बिलियन क्यूबिक मीटर जल चाहिए और बारिश देती है चार हज़ार बिलियन क्यूबिक मीटर जल. लेकिन जल-दारिद्र्य फिर भी बना हुआ है. कारण है जल-निरक्षरता. सभी की यह रूढ़ सोच कि पानी का क्या है, यह तो मिलता ही रहेगा सदा. इसी कारण यह बचाया नहीं जाता, धड़ल्ले से बरबाद किया जाता है.

चार हज़ार बिलियन क्यूबिक वर्षा-जल का हम केवल 8% जमा करते हैं! यह आँकड़ा संसार के न्यूनतम संग्रहों में से एक है. पारम्परिक भूमि-स्रोतों का दोहन लगातार जारी है, तालाब सूखते जा रहे हैं. बढ़ती जनसंख्या और शहरों की प्लानिंग को लेकर जो गम्भीरता चाहिए, वह कहीं नज़र नहीं आती.

अस्सी प्रतिशत पानी जो घर में आता है, सीवेज से होता हुआ नदियों व भूमि में चला जाता है और उन्हें प्रदूषित करता है. इसकी तुलना उस इज़रायल से

करिए, जो मरुस्थल में है और जिसने पानी के संकट से निपटने के लिए माकूल तैयारियाँ कर रखी हैं. यह छोटा सा देश अपने 100% इस्तेमाल किये जल का ट्रीटमेंट करता है और 94% को वापस घरों तक पहुँचाता है. आधे से अधिक कृषि-सिंचाई इज़रायल में इस्तेमाल किये गये जल से ही की जाती है.

मरुता को जलीयता का मूल्य ज्ञात है. हम 'चार कोस पर पानी बदले, आठ कोस पर बानी' की रूढ़ मानसिकता लिये आज भी जी रहे हैं. आठ कोस पर आपको पेप्सी अवश्य मिलती रहेगी, पानी आगे चाहे मिले-न मिले. इसलिए भीतर मरुता शेष रखिए. मन के एक कोने का रेगिस्तान होना इसलिए ज़रूरी है ताकि जल का अवमूल्यन रोका जा सके. जो सर्वत्र रूढ़रूप में नदी-तालाब-कुँओं को बसाये आर्द्र अवधारणाओं के साथ पानी बरबाद कर रहे हैं, उन्हें पानी का संकट बहुत जल्द अपने मायने समझाएगा.

जलहीनता का 'दिवस शून्य' भारत में शीघ्र ही आम बात होगी. शहर है, लोग हैं, पानी किन्तु नहीं है.

विकास की कीमत

सरकार जितने मैंग्रोव-वृक्ष काटेगी, उसके पाँच गुना लगा देगी. भारत को अगर बुलेट-ट्रेन चाहिए, तो वह मैंग्रोव-मरण के बिना तो मिलने से रही!

सरकार की तरफ़ से आयी इस दलील में पेड़ को मात्र पेड़ समझा गया है. वह केवल एक संख्या है, जिसके लिए एक बनाम पाँच का उत्तर पर्याप्त से भी अधिक है. ऐसी कच्ची बचकानी दलीलें यह भूल जाती हैं कि पेड़ को अंकगणित से नहीं समझा जाता. राजनीति और इंजीनियरिंग का फ़लसफ़ा छोड़कर सोचने से ही पर्यावरण की बातें भीतर पैठती हैं.

मैंग्रोव-वृक्षों की जड़ों का जाल बहुत घना होता है, जो मिट्टी को बाँधता और इस तरह उसका क्षरण रोकता है. इस तरह से बारिश के पानी से मिट्टी समुद्र में कम बहती है. साथ ही वे रसायन जो बारिश का पानी भूमि से लेकर समुद्र में जा रहा है, इन जटा-जालों में उलझकर रह जाता है.

मैंग्रोव-वन अनेक मछलियों, कछुओं, घोंघों, पक्षियों व अन्य जीवों के आश्रय हैं, उनकी क्रीड़ास्थली हैं. यहाँ वे अण्डे देते हैं, विकसित होते हैं.तमाम प्रजातियाँ इन वनों पर आधारित अपना जीवन बसर करती हैं.

ये स्थलीय वर्षावनों से कहीं अधिक कार्बन सोखते हैं और वायुमण्डल को गर्म होने से रोकने में इस तरह अपना योगदान देते हैं.

मैंग्रोव समुद्री तूफ़ानों से स्थानीय लोगों की रक्षा करते हैं, उनके नित्य के
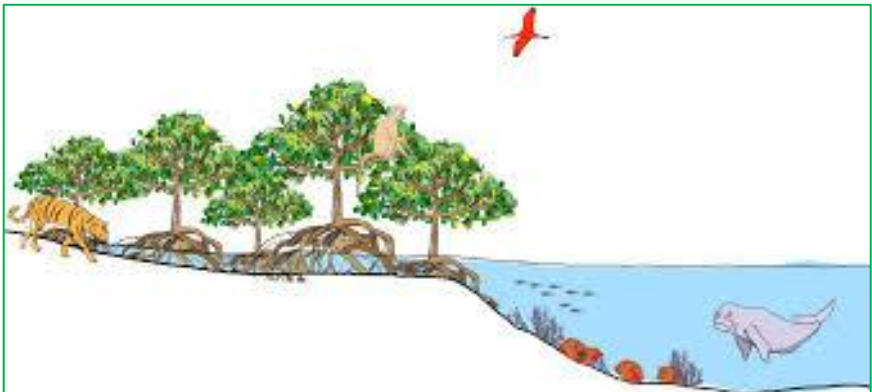
जीवन व जीविका के लिए समुद्री भोजन, लकड़ियाँ, पत्तियाँ और औषधियाँ उपलब्ध कराते हैं.

इतना सब देने वाले ये जटाधारी वृक्ष विकास की चाह के लिए केवल एक संख्या हैं. एक के बदले पाँच. बस. उनके इर्द-गिर्द पनपा पर्यावरणीय तन्त्र उस संख्या में शामिल हो, चाहे न हो.

भारत में मैंग्रोव क्षेत्र

बुलेट ट्रेन पचास हज़ार शवों पर से गुज़रती हो, तो गुज़र जाए. मुम्बई से अहमदाबाद जाने वालों का समय अधिक कीमती है.

याद किन्तु यह ज़रूर रखा जाए कि दुनिया भारत को पश्चिमी घाटों के इन वृक्षों के लिए जानती रही है. यह अलग बात है कि अब हमें मैंग्रोव नहीं, बुलेट ट्रेन में घूमने की चाह अधिक है.

बीजों की रक्षा!

जीवन के ढेरों रूपों की नस्लों-पीढ़ियों को बचाने और आगे बढ़ाने का एक कारगर उपाय कुदरत करती है. वह उपाय बीज-रक्षण कहलाता है.

बीज-रक्षण की कथाएँ आपको प्राचीन धार्मिक धर्मग्रन्थों में मिल जाएँगी. प्रलय या क़यामत का जब आगमन होगा, उसके पहले कोई 'चुना हुआ व्यक्ति' संसार-भर के बीजों को लेकर किसी नाव या जहाज़ पर सवार हो जाएगा और इस तरह से वह सृष्टि बचा लेगा. जब बुरा समय बीत जाएगा, तब इन बीजों से दुनिया का फिर-से विस्तार होगा.

वैज्ञानिकों ने भी संसार-भर के पौधों के बीज एकत्र करने के लिए एक जगह चुनी नॉर्वे के स्वालबार नामक स्थान पर. मुख्य यूरोपीय भूमि से उत्तर की ओर, यह एक द्वीपों का समूह है जो नॉर्वे और उत्तरी ध्रुव के बीच स्थित है. सन् 2008 में इसे चुना गया क्योंकि यह स्थान भौगोलिक दृष्टि से बीज-भाण्डारण के अनुकूल है. यहाँ भूकम्प का ख़तरा नहीं है, न आसपास कोई ज्वालामुखी ही है. नॉर्वे का राजनीतिक माहौल भी वहाँ की जलवायु की तरह 'ठण्डा' ही रहता है.

लेकिन एक दुर्घटना फिर भी हुई, जिसका वैज्ञानिकों के पास कोई तोड़ न था. स्वालबार का बढ़ता तापमान. पिछले सौ सालों में जहाँ संसार का औसत तापमान एक डिग्री सेल्सियस बढ़ा है, वहाँ स्वालबार का साढ़े तीन डिग्री से भी अधिक. यानी स्वालबार धरती की तुलना में अधिक तेज़ी से गर्म हो रहा है.

इतना ही नहीं स्वालबार में बर्फ़बारी नहीं, बारिश हो रही है. बरसात और

स्वालबार का क़यामत तहख़ाना, जिसमें दुनिया-भर के बीजों की प्रजातियां रखी हुई हैं.

बढ़ते तापमान के कारण उन लाखों बीज-प्रजातियों के लिए ख़तरा है, जो यहाँ रखे गये हैं. मानव-कृषिकाल का समूचा इतिहास यहाँ गर्मी-वर्षा से अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष कर रहा है.

बीज होना वस्तुतः मौन होना है. मौन में ही विविधता का संरक्षण है. लेकिन मनुष्य ने तय कर लिया है कि वह संसार-भर के मौन को नष्ट कर के ही दम लेगा. नॉर्वे के इस परम नीरव-निष्क्रिय स्थान तक पर उसके कुकर्मों की मार पड़ रही है. प्रलय में बचे रहने के लिए बनाया गया क़यामत का यह तहख़ाना (डूम्सडे वॉल्ट) आज स्वयं अस्तित्व की लड़ाई लड़ रहा है.

स्वालबार का नष्ट होना कृषि की जैवविविधता का नष्ट होना है. प्रदूषण के शोर से क्या संसार का कोई भी मौनी बच पाएगा?
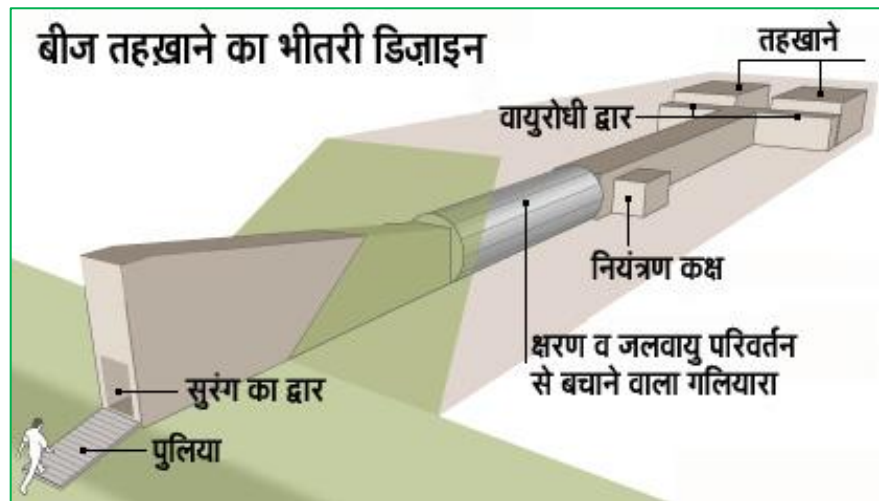
अन्न देवता!

दादी ने पोते से कहा कि प्लेट में खाना नहीं छोड़ते, अन्न देवता होता है.

पोता इक्कीसवीं सदी का है. यह वह समय है जब उसकी उम्र के बच्चे इन्द्र और वरुण से अधिक आयर्न मैन और थैनॉस को जानते हैं. चारों ओर अवेंजर एंडगेम खेल रहे हैं: ब्रह्माण्ड के ढेरों ग्रह बचा रहे हैं. ऐसे में अन्न के निष्प्राण दानों में उसे देवत्व कहीं नज़र नहीं आता. प्लेट पर कुछ दाने रह छूटे हों, तो ऐसी कौन सी बात भला!

पोते को यह भी समझ नहीं आएगा कि किसान देवता होता है. किसान की जय के दिन बीते बहुत समय हो चुका है और कॉर्पोरेट उसकी भूमि पर कब्ज़े को आतुर हैं. अभी वे हमें बिस्कुट-नमकीन खिलाते हैं, इसलिए हमारी जीभ-भर तक उनकी पहुँच हुई है. बिस्कुट-नमकीन खाना कोई अत्यावश्यक नहीं. लेकिन जिस दिन अन्न-सब्ज़ी-फल सभी उद्योगियों के हवाले होंगे, उस दिन हमारी अँतड़ियाँ उनकी मुट्ठी में होंगी.

पोता पब्लिक स्कूल की कक्षा छह में है. अन्न-देव और कृषक-देव की संज्ञाएँ उस पर छाप नहीं छोड़ेंगी. लेकिन वह विज्ञान में दिलचस्पी लेता है, इसलिए उसे कार्बन डायऑक्साइड और वैश्विक ऊष्मिता (ग्लोबल वॉर्मिंग) के कॉन्सेप्ट पता हैं. बस तार जोड़ने हैं कि कैसे प्लेट में खाना छोड़ने से हम दुनिया को तनिक और गर्म करने में अपना योगदान दे रहे हैं.

पोता आश्चर्य-मुद्रा में आ जाता है. कैसे? प्लेट में अगर थोड़ा-सा दाल-चावल छूटा, तो वायुमण्डल में कार्बन-डायऑक्साइड किस तरह बढ़ गयी? ऐसे में उसे बताना पड़ता है कि खाद्यान्न पैदा करने में ऊर्जा लगती है. किसान की ऊर्जा, ट्रैक्टर या बैल की ऊर्जा, सूर्य की ऊर्जा, मिट्टी के उर्वरकों की ऊर्जा इत्यादि सभी मिलकर गेहूँ की बाली बनाते हैं. उससे आटा बनता है. वह बाज़ार तक बेचने के लिए लाया जाता है. उसकी पैकेजिंग होती है, मार्केटिंग भी. सो उपजाना -अन्यत्र ले जाना-पैक करना- विज्ञापन करना यह सब उस गेहूँ को कई गुना महँगा कर देता है. फिर इसके बाद ढेरों ऐसे लोग भी हैं, जिनको दुनिया-भर में असमान वितरण के कारण भोजन नसीब नहीं.
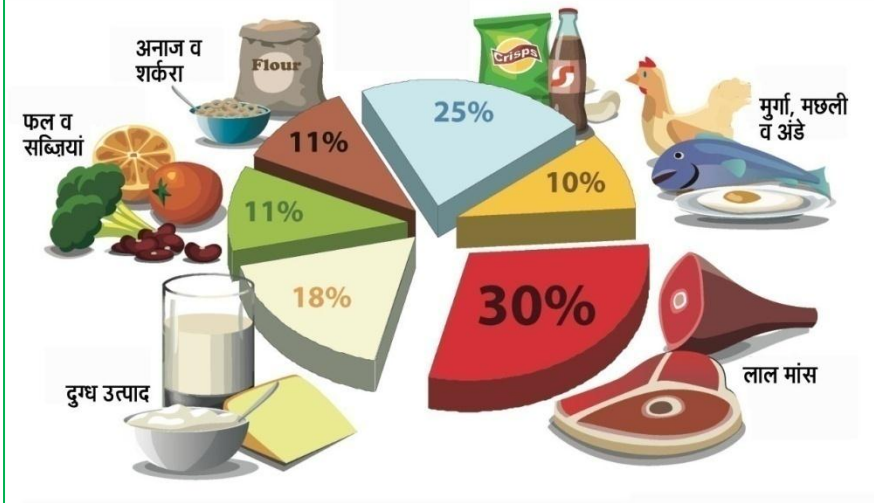
लड़के को समझाया जाता है कि अनखाया फेंका गया भोजन केवल उपज की बर्बादी नहीं. वह ट्रांसपोर्ट की भी बर्बादी है, पैकेजिंग की भी और मार्केटिंग की भी. यह सब उपज के इन दानों के साथ नाली में जाएगा. अपनी प्लेट में आवश्यकतानुसार लेना और कुछ न छोड़ना, दरअसल पृथ्वी के प्रति कृतज्ञता है, जो हमें नित्य भोजन मुहैया कराती है. लेकिन इसी नित्यता के कारण हममें बेरुखी पैदा होती है. आज मिला है, तो क्या कल नहीं मिलेगा भोजन?

लड़के को बताया जाता है कि पापा-मम्मी भी ऊर्जा खपाते हैं, तब पैसे कमाते हैं. हर उपलब्धि रोटी-कपड़ा-मकान-आनन्द सभी-कुछ मेहनत खर्च करने से मिल रहा है. यह सच है कि पापा-मम्मी पैसे कमाने के लिए (साँसों के सिवाय प्रत्यक्ष रूप से) कार्बन डायऑक्साइड नहीं छोड़ रहे, लेकिन वे दफ़्तर जाते हैं जहाँ पंखा-बिजली सब-कुछ उनके लिए सरकारी-निजी फ़र्म खर्च कर रही हैं.

लड़के को अन्ततः समझ में आता है कि ऊर्जा का अपव्यय संसार का सबसे बड़ा अपव्यय है और ऊर्जा का नाहक नाश पृथ्वी के प्रति सबसे बड़ी कृतघ्नता. वह बताता है कि अमुक अभिनेत्री वीगन हो गयी हैं और उन्होंने मांस-दूध-इत्यादि छोड़ दिया है. उसे बताया जाता है कि मांस और दूध उपजाने के लिए दुनिया-भर के जंगलों का बड़ा हिस्सा नष्ट हो रहा है, जिस पर रोक ज़रूरी है. अभिनेत्री

किसलिए वीगन हुई हैं, यह तो वे ही जानें लेकिन वीगन होकर पृथ्वी को थोड़ा तापानुकूल कूल-कूल रखा जा सकता है.

लड़का रोमांचित है और अब जागरूक भी. उसने तय किया है वह भोजन-अपव्यय रोकने के विचार अपने दोस्तों से साझे करेगा. यथासम्भव पैकेज्ड-प्रोसेस्ड भोजन कम करेगा. दूर से लाकर बेचे जा रहे भोजन की जगह स्थानीय भोजन को तरजीह देगा. वह बागवानी की शौक़ीन मम्मी के साथ घर में भी कुछ सब्ज़ियाँ उगाने की बात पर विचार कर रहा है.

लड़का जान गया है कि अगर सब किसान होने पर विचार नहीं करेंगे, तो कृषकत्व उन कुछ हाथों में चला जाएगा जो उसे उद्योग बनाकर मनमानी उपज के साथ मनमाना पैसा वसूलने की स्थिति में होंगे. जीवन जितना उद्योगी हुआ, उतना वह क्रूर भी होता जाएगा.

लड़का समझ चुका है कि अन्न देवता है क्योंकि उसके अन्दर के एलेक्ट्रॉनिक रासायनिक बॉण्डों में ऊर्जा का संचय है. ऊर्जा को बर्बाद करना ही देवता का अपमान करना है, जिससे शाप मिलता है.

लड़का 'टू ईच अकॉर्डिंग टू हिज़/हर नीड' कहता है और दाल-चावल के अन्तिम दानों को चम्मच से समेटते हुए मुँह में डाल लेता है.

अनुकरणीय जीवन

अंगद से पहली मुलाक़ात उसकी शादी में ही हुई थी और उससे प्रभावित हुए बिना मैं रह न सका था.

रात के नौ बजे का समय. दूल्हा और दुल्हन दोनों डिनर-स्टॉलों के पास खड़े हैं, जहाँ प्लेटें सर्व की जाती हैं. उनके पीछे एक बड़ा-सा पेड़ है जिसके तने पर एक चौड़ा बोर्ड लगा है. उस पर शब्द हैं: लेट्स नॉट वेस्ट फ़ूड, लेट्स मेक अवर अर्थ ग्रीन अगेन, लेट्स रिपेंट फ़ॉर अवर सिंस. (प्लेट में खाना बर्बाद न करें, आइए पृथ्वी को फिर से हरा-भरा करें, आइए अपने पापों का प्रायश्चित्त करें.)

अंगद और मन्दिरा सभी का अभिवादन करते हैं. वृद्धों से आशीर्वाद, युवाओं से हाथ मिलाना-हग करना और बच्चों को प्यार देना- इन सब लोकाचारों के बीच मेहमानों का ध्यान पीछे लगे उस बोर्ड पर अवश्य जाता है, जिसकी छाँव-तले वे खड़े हैं. मिलना-मिलाना सुखद ढंग से चल रहा है, लेकिन इस विवाहोत्सव की दो अन्य बातों पर भी लोगों का ध्यान जाए बिना रह नहीं पाता. किसी भी स्टॉल में कोई प्लास्टिक का बर्तन नहीं है: प्लेटें-कटोरियाँ-कुल्हड़-चम्मच सभी मिट्टी-पत्तों से बने हैं. और फिर कोल्ड ड्रिंक का कोई काउंटर जानबूझ कर नहीं लगाया गया है: युगल के अनुसार यह वह पेय है, जिसकी समाज को कोई आवश्यकता नहीं.

विवाह हो जाने के बाद अंगद-मंदिरा से जब दूसरी भेंट हुई, तो ढेर सारे प्रश्न मन में थे. सबसे महत्त्वपूर्ण इनमें से यह था कि तुम-दोनों की पर्यावरण में इस क़दर दिलचस्पी कैसे पैदा हुई. वे हँसे और कहने लगे कि भैया, पर्यावरण में दिलचस्पी न लेना एब्नॉर्मल माना जाना चाहिए. यह दुर्भाग्य है कि हम साँस में भीतर आती हवा, घूँट में अन्दर उतरते पानी और कौर में खाये जाते भोजन के अलावा ढेरों बेवकूफियों से चिपके हुए जीवन काट देते हैं. जो मिल रहा है और जिसके बिना जीवन बिलकुल नहीं कटेगा, वह सब फ़ॉर-ग्रांटेड लिया जाता है. पूरी दुनिया केवल एक चीज़ के लिए मरी जा रही है: व्यर्थ का शो-ऑफ़!

मन्दिरा कहती है कि मान लीजिए खाने की बर्बादी कोई देश होता. यानी ग्रीनहाउस-गैस-उत्सर्जन के आधार पर अगर नम्बर एक पर अमेरिका और दो पर चीन है तो तीसरे नम्बर पर खाने की बर्बादी आती. यानी जितनी ग्रीन-हाउस गैसें

अमेरिका वायुमण्डल में छोड़ता है और फिर चीन, उससे कुछ ही कम संसार-भर के लोग भोजन को नाली में फेंक कर छोड़ देते हैं.

अंगद बताता है कि संसार का 30-40% भोजन कभी किसी इंसान के हलक के नीचे नहीं उतरता. वह ठीक से उपज नहीं पाता, ख़राब हो जाता है अथवा हम-जैसे लोगों द्वारा फेंका जाता है. ऐसे समय में जब कितने ही लोग भोजन न पा सकने के कारण रोज़ भूखे सोते हों, शादी-ब्याह में खाने की बर्बादी निष्ठुर क्रूरता के साथ उन्हें चिढ़ाने जैसा काम है.

मन्दिरा राज़ खोलती है कि उन-दोनों से शादी की लिस्ट में काट-छाँट से यह पहल शुरू की थी. उन्हीं को विवाह में बुलाया गया, जो महत्त्वपूर्ण थे. महत्त्व भावनात्मक -लोकात्मक आधार पर तय किये गये. केवल बुलाने के लिए ढेरों लोग नहीं बुलाये गये. इससे जो पैसा बचा, उसका इस्तेमाल भोजन के दौरान अन्य कामों में किया गया. दोनों परिवारों ने साझा धनव्यय किया और विवाह में उपहार-स्वरूप धनराशि से वे कोई सार्थक पर्यावरणीय कार्य करने के इच्छुक हैं.

मैं जानता हूँ कि अंगद-मन्दिरा कोई सर्वथा आदर्श युगल नहीं. ऐसा भी नहीं कि इनके विवाहोत्सव में अथवा बाद के जीवन में इनसे जाने-अनजाने पर्यावरणीय भूलें-चूकें नहीं होंगी. लेकिन इन-दोनों ने शुरुआत की है. कहीं किसी क्षण, किसी काम से, किसी को आरम्भ तो करना ही होगा. गलतियाँ होंगी, उनपर सुधार आगे किया जाता रहेगा.

सरकार बिसलेरी की बिक्री पर रोक लगाएगी, तब हम जागेंगे और प्लास्टिक-प्रयोग कम करके पर्यावरण बचाएँगे --- यह दलील बचकानी है. बिक्री खरीद से जुड़ी बात है: जो नहीं खरीदा जाएगा, वह बिक नहीं सकेगा. बाज़ारवाद को उसी की भाषा में जवाब देने का इससे माकूल तरीक़ा भला और क्या हो सकता है!

अंगद-मन्दिरा से दोस्ती बनी हुई है. नित्य बातें साझा होती हैं: रोज़ ग़लतियों पर सुधार हुआ करता है. जीवन सीखने का नाम है: यहाँ कोई किसी को नीचा या स्वयं को ऊँचा नहीं दिखा रहा.

प्रकृति के विद्यालय-प्रांगण में शिक्षा जीवनपर्यन्त चलती रहेगी, चलनी चाहिए भी.

जहरीली हरी मौत!

... शैवालों की हरी दरी पर प्रणय-कलह छिड़ते देखा है,
बादल को घिरते देखा है!
(नागार्जुन)

कुदरत में जहाँ हरियाली और उर्वरता दिखी, मैंने उन्हें शुभता और प्रसन्नता से जोड़कर देखा. लेकिन फिर कुदरत ने ही मुझसे कहा कि हरियाली और उर्वरता रोग के लक्षण भी हो सकते हैं. विश्व के मानचित्र पर पहले बाल्टिक समुद्र खोजिएगा और फिर मेक्सिको की खाड़ी. एक यूरोप के समीप है, दूसरी अमेरिका के. दोनों के नाम साथ इसलिए ले रहा हूँ कि क्योंकि वे पृथ्वी के सबसे बड़े महासागर-श्मशान हैं.

महासागर-श्मशान अर्थात्? महासागरों-सागरों के वे हिस्से, जहाँ जीवन नहीं है. वहाँ पानी है, हरियाली है- लेकिन न मछलियाँ हैं, न केकड़े, न कछुए. ये वे हरे रेगिस्तान हैं, जहाँ मौत के अलावा जीवन पनप ही नहीं सकता.

लेकिन फिर ये हरे क्यों हैं? और कोई जीव-जन्तु यहाँ रह क्यों नहीं पा रहा? हरियाली इनमें इसलिए है क्योंकि यहाँ एक ख़ास किस्म के जीवाणु रहते हैं. बस, वे ही रह पाते हैं. इन जीवाणुओं का नाम सायनोबैक्टीरिया है. इनमें हरा रंजक क्लोरोफ़िल मौजूद है, इसलिए ये हरे हैं. इन बिछी हरी मौतों को विज्ञान एल्गल ब्लूम कहता है अंगरेज़ी में. हरियाला खिलाव यह ज़रूर है, लेकिन मौत का प्रतीक है. किलोमीटरों तक हरी दरी बिछी हुई है सागर-सतह पर, लेकिन दरी के नीचे कुछ नहीं. कोई जन्तु नहीं. सब या तो भाग गये अथवा मारे गये. हरे रंग ने किसी और को पनपने ही नहीं दिया.

क्यों फैला महासागर में यह हरा रंग? कारण कई हैं. लेकिन कुछ पर बात
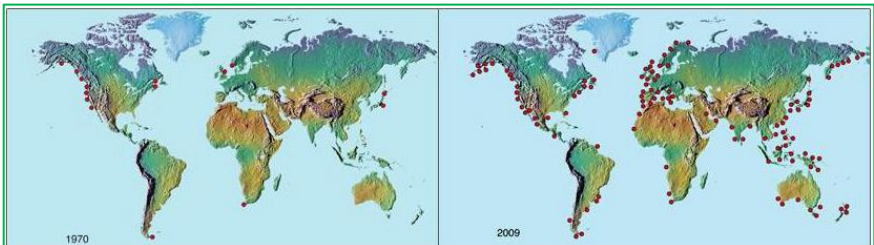
करनी ज़रूरी है. हमने पेड़-पौधों से धरती को विहीन कर दिया और खेती के लिए ख़ूब नाइट्रोजन-फ़ॉस्फ़ोरस-युक्त उर्वरकों का प्रयोग किया. बरसात जब जमकर हुई तो मिट्टी उर्वरकों के साथ मिलकर नदियों में पहुँची और अन्ततः सागरों-महासागरों में. नदियों का मीठा पानी समुद्रों के लवणीय जल से मिल गया. यह मीठा पानी कुछ ऊष्म था, ऊपर रहा. इस पानी में खाद थी खेतों की, इसलिए इसमें सायनोबैक्टीरिया पनपने लगे. समुद्र की सतहें हरी होने लगीं. ऊपर से सूर्य का प्रकाश पड़ ही रहा था. नतीजन ये खूब बढ़ने लगे. इतने कि इन्होंने समुद्र के भीतर प्रकाश का प्रवेश ही रोक दिया.

इनके द्वारा ऑक्सीजन छोड़ी गयी, लेकिन वह नीचे के ठण्डे पानी में ढंग से मिल ही न पायी. गर्म पानी में वैसे भी घुली हुई गैसें घट जाती हैं. इस कारण समुद्र की हरी सतहें भीतर से समुद्र को ऑक्सीजनहीन और अन्धकारयुक्त करने लगीं. सायनोबैक्टीरिया स्वयं भी मरने लगे और उन्हें जिन जीवाणुओं ने खाया-पचाया (डिकम्पोज़ किया), वे बची-खुची ऑक्सीजन भी इस्तेमाल कर ले गये. सायनोबैक्टीरिया ने कई विषैले रसायन भी छोड़े सायनोटॉक्सिन नाम के. इतना सब हो जाने पर मौत-ही-मौत बची हरियाली के नाम पर और कुछ नहीं. कोई अन्य जीव-जन्तु नहीं भला कैसे जीवित रहता!

हरे-नीले की ऐसी मारक उपस्थिति मैंने कभी नहीं देखी-सुनी थी. लेकिन प्रकृति है कि वह अपनी ही धारणाओं-अवधारणाओं-परिभाषाओं को मेट देती है.

वह बिहारीलाल से कहती है कि मेरी भव बाधा कौन हरेगा कविराज! राधा नागरी तो सूर्य का प्रकाश है, महासागर स्वयं श्रीकृष्ण. जब महासागर सूर्य-ज्योति का आलिंगन करता है, तो हरा रंग पैदा होता है जो जीवनदायी-कल्याणकारी है. लेकिन आज यह हरीतिमा! यह मृत्युपरक क्यों हुई जाती है!

फिर कविता में ही एल्गल ब्लूम की इस मृत्युपरकता का उत्तर भी है. राधा कृष्ण की देह-भर का आलिंगन नहीं करतीं, वे अपने नीलकृष्ण के भीतर प्रवेश करती हैं. जो भीतर न जातीं, तो सतह पर हरियाली तो आती, किन्तु कृष्ण का अन्तर जीवन्तता से नहीं चहकता-महकता. वे बाह्य हरियाली लिये अपने अन्तर-अन्धकार संग किसी ऐसे भक्त-कविकर्मी की प्रतीक्षा करते जो केवल शब्द न टाँके, कर्म से उनकी महासागरीय देह का रोग भी हर ले. राधा को उनके भीतर प्रविष्ट होने दे, उन्हें हरीतिम संजीवनी दे.

कृष्ण कृषीश्वर (कृषि के ईश्वर) हैं, वे हमारे पर्यावरण-प्रचेतना के पितामह हैं. उनका कर्षण किया गया है, उन्हें निकाला गया है. कंस के कारण उन्हें जन्मते ही अपने प्रिय माँ-बाप को छोड़कर जाना पड़ा है. इसी कारण वे नीलदेही हैं, उनमें जीवन का संचार राधा रानी की पीताभा ही करती है. लेकिन कविताओं को सुनने-गुनने-भर से क्या होगा, अगर हमें पेड़ काटने जारी रखें, खेतों में अन्धाधुन्ध उर्वरक भर दें और किसी भी तरह मिट्टी का बेलगाम बहाव नदियों में न रोक पाएँ! तब कैसे खिलेंगे कृष्ण और कैसे जीवन्त होगी बिहारीलाल की कविता!

ये हरी सायनोबैक्टीरियाई मौतें केवल सुदूर समुद्रों में हो रही हों, ऐसा नहीं. भारतीय सागरों-महासागरों-नदियों-तालाबों में भी इनका प्रसार बढ़ा है. ये इतने हानिकारक हैं कि यदि किसी जानवर अथवा मनुष्य ने यह हरा पानी पिया, तो वह बीमार पड़ा अथवा मौत के घाट सिधारा. इन हरे जलीय इलाक़ों का प्रसार जितना हो सके, हमें घटाना ही पड़ेगा.

पेड़ों को यथासम्भव बचाइए. पृथ्वी का श्रृंगार कीजिए. मिट्टी को वे बाँधेंगे, बाढ़ आने पर पानी का नदियों में बहाव रोकेंगे. सिंचाई और उर्वरक-प्रयोग ठीक से समझ कर करिए, अधिक भोजन कराना भी उसे बीमार करना है. इसी तरह से समुद्रों पर हरी मौत की सतहें रुकेंगी, इसी तरह हमारे मृतप्राय महासागर-नदियाँ-तालाब पुनर्जीवित होंगे!

मेरी भव बाधा हरौ- प्रकृति हमसे कह रही है. मात्र शब्दों से नहीं, सम्यक् कर्मों से.

दाग़दार सौर ऊर्जा

कोयले और पानी से बनने वाली बिजली को सौरऊर्जा से स्थानान्तरित बिना सोचे-समझे करने के बड़े बुरे नतीजे होंगे.

सौर पैनलों का प्रयोग जिस तरह से बढ़ रहा है और आगे और बढ़ेगा, उसके साथ एक ख़ास बात दिमाग़ में अभी से रख कर चलना है. सौर-पैनलों का जो सीसा-कैड्मियम-युक्त अपशिष्ट होगा, उसे कहाँ और कैसे निस्तारित किया जाएगा? पेट्रोल-डीज़ल के लिए जो स्थिति आज है, कहीं हम इससे बुरी स्थिति में तो बीस साल बाद नहीं होंगे?

सौर पैनल प्रति यूनिट ऊर्जा उत्पादन के दौरान नाभिकीय ऊर्जा-संयन्त्रों से भी 300 गुना विषैला कचरा पैदा करते हैं. अगर सौर और नाभिकीय दोनों ढंग से बिजली अगले पच्चीस साल तक उसी मात्रा में बनायी जाए, जितनी आज नाभिकीय संयन्त्र बना रहे हैं और निकले कचरे को फुटबॉल में मैदान में लगाया जाए, तो नाभिकीय कचरे की ऊँचाई पीसा की मीनार जितनी ऊँची होगी. लगभग तिरपन मीटर. जानते हैं सौर पैनलों के कचरे की ऊँचाई कितनी होगी? अंदाज़ा तो लगाइए! दो माउंट एवरेस्ट की सम्मिलित ऊँचाई के बराबर यानी लगभग सोलह किलोमीटर.

सौर फ़ोटोवोल्टायक पैनल 20-30 साल काम करते हैं, फिर वे बेकार हो जाते हैं. बिना पुराने पैनलों को नष्ट किये बिना इनमें मौजूद हानिकारक तत्त्व
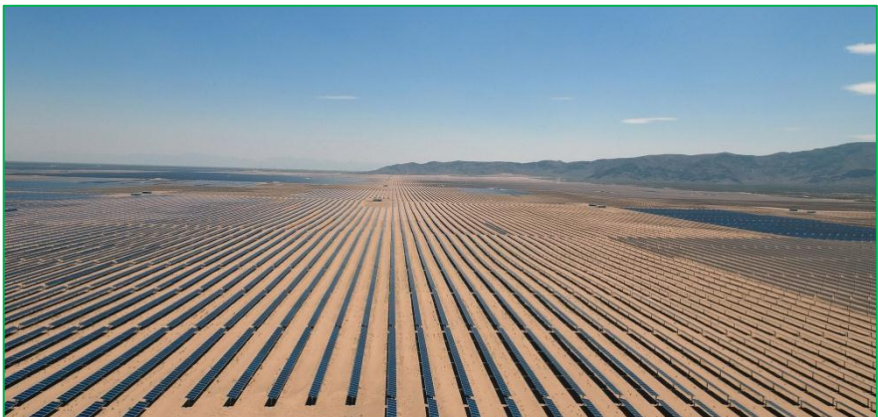
सीसा-कैड्मियम-इत्यादि निकाले न जा सकेंगे. यही नहीं सौर पैनलों से भी एक ग्रीनहाउस गैस नायट्रोजन ट्रायफ़्लोराइड निकलती है, जो पृथ्वी को गर्म करने में कार्बनडायऑक्साइड से 17, 200 गुणा अधिक सक्षम है. ऐसे में इस नये विकराल गैसीय शत्रु से बीस साल बाद हम-सब कैसे निपटेंगे?

जापान के पर्यावरण-मन्त्रालय से 2016 में चेतावनी जारी की कि सौर पैनलों का प्रयोग तेज़ी से बढ़ रहा है और हमारे पास इनके कचरे के निस्तारण की कोई सम्यक् नीतिगत व्यवस्था नहीं है. यही हाल चीन और अमेरिका का है. पुराने पैनलों को मिट्टी में गाड़ना कोई समाधान नहीं है: ऐसा करने से विषैले तत्त्वों मिट्टी में फैल जाएँगे. रीसायकल किया जा सकता है, पर उसमें पैसा और मेहनत बहुत लगती है.

आँधी-तूफ़ान-बाढ़ जैसी आपदाओं में यदि पैनल टूटे और ये विषैली तत्त्व बिखर गये, तब? यदि पैनलों में बरसात के रिसाव के कारण तत्त्व लीक होने लगे, तब?

प्रश्न पूछना ग़लत नहीं है. पर्यावरण को बचाने के लिए ख़ूब प्रश्न किये जाने चाहिए. नवीनता और प्राचीनता दोनों से.
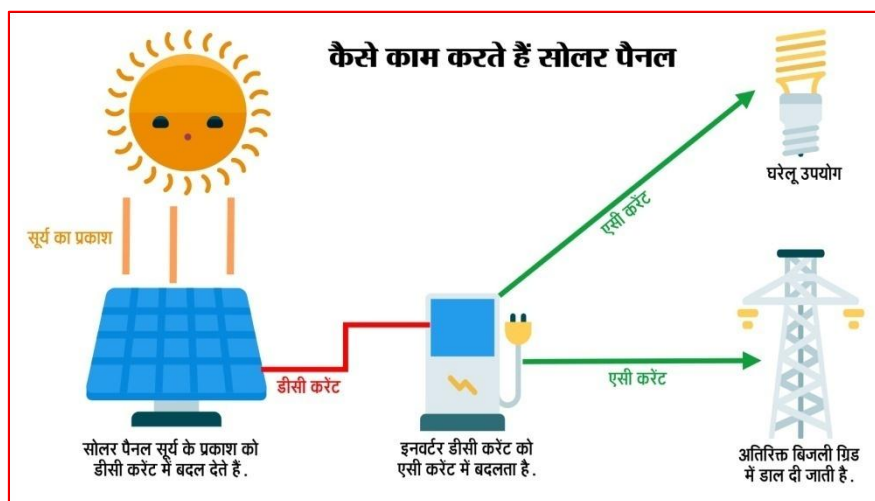
प्लास्टिक ही विकास है!

पहले दोधी ताज़ा दूध दे जाता था तब हम जाहिल थे पिछड़े थे, अब प्लास्टिक की थैली में केमिकल युक्त दूध पीकर और चार प्लास्टिक की थैलियां कूड़े में फैंक कर कहते हैं बहुत विकास हो गया.

मनुष्य के भौतिक विकास ने समुद्र को प्लास्टिक-कचरे के विशाल पैबन्द दिये हैं. ऐसे पैबन्द जो हज़ारों-हज़ार मील तक फैले हैं हर महासागर में. इनमें सबसे बड़ा पैबन्द प्रशान्त महासागर में है, जिसे ग्रेट पैसिफ़िक गार्बेज पैच का नाम दिया गया है. इसके अलावा उत्तरी व दक्षिणी अटलांटिक, हिन्द और दक्षिणी प्रशान्त महासागर में भी कचरे के पाँच बड़े प्लास्टिक के ढेर जमा हो चुके हैं.

समुद्र स्थिर जलराशि नहीं है. वह सतत् चलायमान है. पृथ्वी और उसके वायुमण्डल की गतियाँ, पानी का अलग-अलग घनत्व और लवणीयता (नमक की मात्रा) समुद्र में धाराओं का निर्माण करती हैं. इन धाराओं को जिन्हें अँगरेज़ी में गायर कहा गया है, के कारण तट पर अथवा समुद्र में छोड़ा गया प्लास्टिक-कचरा ख़ास स्थानों पर एकत्र होता जाता है.

आम तौर पर लोग सोचते हैं कि प्लास्टिक के ढेर समुद्र में तैरते सामान की तरह दिखायी देते होंगे. यह पूरी तरह सच नहीं है. पानी और सूरज के प्रकाश के कारण प्लास्टिक के नन्हे-नन्हे टुकड़े हो जाते हैं, जिन्हें मायक्रोप्लास्टिक कहा
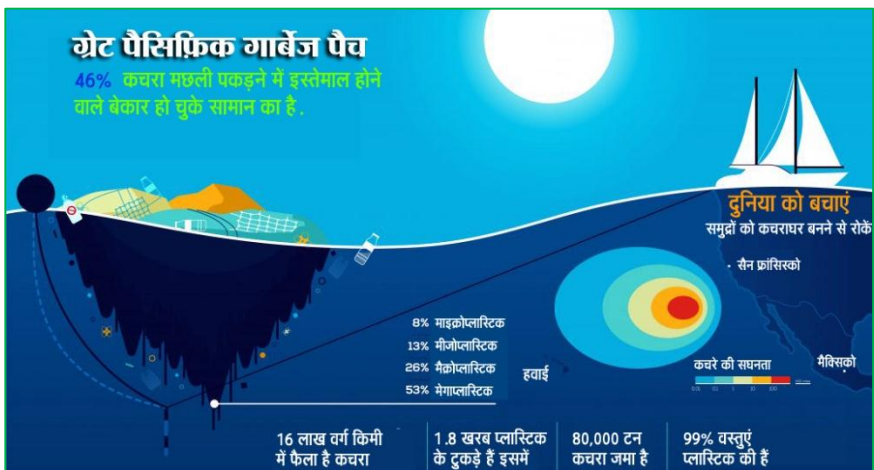
जाता है. कई बार इन मायक्रोप्लास्टिकों का आकार बहुत ही छोटा और आँखों से भी न दिखने वाला होता है. इन टुकड़ों के कारण समुद्र का रंग किसी मटमैले-धूसर सूप की तरह हो जाता है. आसमान में ड्रोनों -हवाई जहाज़ों से भी हम इस जमावड़े का अंदाज़ा अनेक बार नहीं लगा पाते. कई बार तो पानी के जहाज़ की यात्रा के दौरान भी नहीं!

यह कचरा किसका है? ज़ाहिर है कोई देश तो इसका जिम्मा लेने से रहा! अच्छाई पर सबकी नज़र होती है, बुराई कोई नहीं लेना चाहता. लेकिन समुद्र में फ़ैली यह बुराई ऐसी है कि अगर जल्द इसके लिए कुछ बहुत बड़ा नहीं किया गया, तो यह सबमें साझी बँटकर सबका बुरा ज़रूर करेगी.

समुद्र की यह गन्दगी साफ़ करना सरल नहीं है. कारण कि प्लास्टिक बड़े ही नहीं, छोटे रूपों में भी बिखरा पड़ा है. केवल सतह पर ही नहीं, नीचे बहुत गहराई में भी. गायरों के कारण पैबन्दों में भी और अन्यत्र समुद्र में भी. ऐसे में तमाम दावों-कोशिशों के बावजूद इतना समय और पैसा ख़र्च कौन करेगा इस कलंक को साफ़ करने में? यह सब समुद्र के पानी और जीवों के माध्यम से हमारे शरीरों में लौटेगा. पॉलीथीन, खिलौने, पाइप, पैकिंग, स्ट्रॉ, गिलास-- सभी कुछ. सब हमारे डीएनए से उत्तर पूछेगा. समुद्र से सब जुड़े हैं. जो जानते हैं वे भी, जो नहीं जानते वे भी. समुद्र को सभी को हिसाब देना होगा.

शोधपत्रों का इंतज़ार कीजिए. लेकिन तब तक हो सके, तो प्लास्टिक का कुछ भी खरीदने से पहले सौ बार सोचिए.

माइक्रोप्लास्टिक का अदृश्य भोज

आमिष और निरामिष, दोनों तरह का भोजन खाने वाले एक तीसरा भोजन रोज़ खाते हैं. मायक्रोप्लास्टिक-भोजन.

प्लास्टिक हर जगह है. स्थूल रूप में तो वह मिट्टी में पड़ी पन्नी और पानी में तैरते स्ट्रॉ के रूप में दिखायी देता ही है, सूक्ष्म रूप में वह हम-सब के बाहर-भीतर हर जगह है. हमारे घरों-दफ़्तरों की हवा में, पीने वाले पानी में हर जगह प्लास्टिक के सूक्ष्म कण विद्यमान् हैं. हम भोजन करते हैं, तो प्लास्टिक-संग खाते हैं ; मल त्यागते हैं, तो प्लास्टिक संग निकलता है.

सारा प्लास्टिक रीसायकिल नहीं हो सकता. होगा भी नहीं. यह सम्भव नहीं है. आज से सारा प्लास्टिक-उद्योग बन्द कर दिया जाए, तब भी नहीं. लेकिन कम करना सम्भव है. घटाने से चीज़ों का नियन्त्रण बेहतर होता है, विकल्प खुलते हैं. लेकिन घटाने के लिए वह दो सेकेण्ड की सोच चाहिए, ख़रीद के समय. दो सेकेण्ड की विस्मृति और प्लास्टिक पास आया और/या घर पधारा.

जानवरों में प्लास्टिक के कारण होने वाले दुष्प्रभाव पत्र-पत्रिकाओं में छपते रहे हैं. कछुवे की नाक में कोई स्ट्रॉ, ह्वेल के पेट में प्लास्टिक का कचरा, प्लास्टिक की ईयरबड के सहारे तैरता समुद्री घोड़ा. इस सब से इतर जीव-जन्तुओं की कोशिकाओं में भी मायक्रोप्लास्टिकों के सूक्ष्म कण प्रवेश कर रहे हैं. क्या क्रियात्मक दुष्प्रभाव करते हैं या करेंगे ये-- हम ठीक-ठीक अभी नहीं जानते.

मेरे एक मित्र प्लास्टिक-व्यापारी को लेकर आये थे. वे निःसन्तान हैं. डॉक्टर ने शुक्राणुओं की संख्या में बहुत कमी बतायी है. प्लास्टिक से मुनाफ़ा कमाने के बाद भी वे पूजा-पाठ वाले आदमी हैं. चर्चा चली तो पूछने लगे, 'कहीं यह पाप का प्रभाव तो नहीं?' मैं उन्हें पारलौकिक पाप की जगह इहलौकिक पाप पर ले आता हूँ. उनसे कहता हूँ कि हो सकता है कि आपका प्लास्टिक-रसायनों से सम्पर्क अधिक रहने के कारण कोई दुष्प्रभाव हुआ हो. वे डॉक्टर के मुँह से 'हो सकता है' नहीं सुनना चाहते. उन्हें कन्फ़र्मेशन चाहिए और वह भी तत्क्षण.

मैं उनसे कह रहा हूँ कि रासायनिक दुष्प्रभाव समझने में कई बार कई पीढ़ियाँ बीत जाती हैं. विज्ञान के ट्रायल दशकों चलते हैं. सिगरेट से कैंसर होता है, यह विवाद बीसवीं सदी छाया रहा. सिगरेट-कम्पनियाँ विरोध करती रहीं, मौत बेचती

रहीं. आज भी बिक्री नहीं रुकी है, लोगों को सरकार ने इच्छा-धूम-मृत्यु चुनने का विवेकी-अविवेकी अधिकार दे रखा है.

मैं उन्हें वैज्ञानिक ट्रायलों की मजबूरी समझाता हूँ. लोगों को जमा करके उन्हें प्रयोग के नाम पर मायक्रोप्लास्टिक नहीं खिला सकते. यह एथिक्स के ख़िलाफ़ है. लेकिन उन्हें मायक्रोप्लास्टिक खाता देख सकते हैं. उनके भीतर के बदलाव पढ़ सकते हैं. सो पढ़ रहे हैं. दशकों पढ़ेंगे. फिर बताएँगे कि क्या दुष्प्रभाव किससे हो रहा है और क्यों. तब तक दुनिया और प्रदूषित एवं विद्रूप हो जाएगी.

अन्तिम बात कहकर अपना कथ्य ख़त्म करता हूँ. विज्ञान से आप प्रयोग द्वारा उत्तर चाहते हैं कि प्लास्टिक का वह आपके शरीर पर दुष्प्रभाव बताये, तभी आप मानेंगे? हर सत्य जानने के लिए क्या रैण्डमाइज़्ड कंट्रोल्ड ट्रायल ज़रूरी है और क्या हर प्रभाव-दुष्प्रभाव के लिए रैण्डमाइज़्ड कंट्रोल्ड ट्रायल किया जा सकता है? आप किसी अन्य बिज़नेस को क्यों नहीं अपना लेते? वे पूछ रहे हैं कि क्या उससे सन्तान-प्राप्ति हो जाएगी? मैं उनसे कहता हूँ कि ढेरों सन्तानों की कही-अनकही दुआएँ आपको ज़रूर मिलेंगी.

बाक़ी दुआ-बद्दुआ से कुछ होता हो- न होता हो, मायक्रोप्लास्टिक से अनेक दुष्प्रभाव सामने आएँगे. प्रतीक्षा कीजिए, उत्तर मिलेगा.

मारक प्लास्टिक कण

खाइए प्लास्टिक-कण, आगे समय बताएगा!

प्लास्टिक आधुनिक समाज का सबसे बड़ा पापोत्पाद है. लोग सामान खरीदते समय सोचते नहीं और न इस्तेमाल के बाद ध्यान रखते हैं कि इसे कैसे और कहाँ डिस्पोज़ किया जाए.

एक प्रेत की पुरानी कहानी याद आती है. जंगल से गुज़रते राहगीर को एक प्रेत मिला. उसने उसे भोजन कराया और जवाहरात भी दिये. व्यक्ति को लालच आ गया. वह उससे कहने लगा "तू मेरे साथ शहर चल, वहीं रह!"

प्रेत ने शर्त रखी कि चलूँगा तो पर तुम मुझे कभी छोड़ने की न सोचना. छोड़ोगे तो तुम्हें खा जाऊँगा. समझे! व्यक्ति ने बिना सोचे-समझे हामी भरी और प्रेत को लेकर घर आ गया.

बड़े दिनों तक सब-कुछ सुखपूर्वक चला. फिर प्रेत ने इच्छाओं की पूर्ति के साथ अपनी इच्छाओं को भी सामने रखना शुरू किया. एक दिन कहा कि, "तेरा बच्चा बड़ा स्वादिष्ट लगता है. तेरे पास तो तीन हैं. एक को खा लूँ?"

उस दिन वह व्यक्ति फूट-फूट कर रोया. कहानी में आगे उसने किस तरह प्रेत से निजात पायी, यह जानने से कोई फ़ायदा नहीं. प्लास्टिक के आधुनिक प्रेत से निजात नहीं है और व्यक्ति जानता नहीं कि उसका क्या खाया और मिटाया जा रहा है - यह समझना महत्त्वपूर्ण है.

प्लास्टिक से बचिए. यथासम्भव प्रयोग घटाइए. कोई प्रयोग करे, तो टोकिए. सरकारों तक बात पहुँचाइए.प्लास्टिक-व्यापारियों तक भी. उनका आज का मुनाफा कल उन्हीं के परिवारों पर बड़े नुकसान के रूप में लौटेगा.

प्रेत किसी मनुष्य को मारने में अमीर-ग़रीब-ऊँचे-नीचे का कोई अन्तर नहीं रखेगा!

भस्मासुर

चित्र किसी गर्म समुद्र का है, जिसमें दो खुले हुए मुँह हैं. एक हमारी ओर खुल रहा है, दूसरा हमसे दूसरी ओर और इसी कारण हमें दिखायी नहीं दे रहा.

दाहिनी ओर खुला मुँह जिस जीव का है, वह एक ह्वेल शार्क है. व्हेल नहीं है यह, शार्क ही है. किन्तु शार्कों में सबसे बड़ी प्रजाति है. इसलिए इसे ह्वेल शार्क नाम दिया गया. ह्वेल शब्द यहाँ आकार के लिए इस्तेमाल किया गया. वह जो शार्कों में सबसे भीमकाय प्रजाति है, उसे ह्वेल शार्क कहा जाने लगा.

ह्वेल शार्क गर्म महासागरों में मिलती हैं. प्रशान्त, अंटार्कटिक, हिन्द महासागरों-- सभी में ये पायी जाती हैं. इतनी भीमकाय होने के बाद भी ये समुद्र के सबसे नन्हें जीव खाती हैं. प्लैंकटन. श्रिम्प. छोटी मछलियाँ. वैसे नहीं, जैसे हम खाते हैं. इनके विशाल मुँहों में बड़ी मात्रा में जल छानने वाले दाँतों की पंक्तियाँ होती हैं. सो पानी मुँह से गुज़रता है और भोजन भीतर ले जाता है. फिर उसे वापस लौटा दिया जाता है और इस तरह इन जीवों का पेट भरा करता है.

अद्भुत बात है कि संसार के सबसे बड़े मत्स्य इस तरह से समुद्र के सबसे छोटे जीवों पर जीवित हैं. कुदरत की कारीगरी भी कमाल है! शान्त विशाल मछलियाँ, जो मनुष्य या बड़े जीवों के प्रति ज़रा हिंसा नहीं प्रदर्शित करतीं. हिंसा की समझ में यह बड़े-छोटे की पहचान बहुत आवश्यक है. अनेक बारे लघु हिंसाओं को हम अहिंसा मानते रहे हैं. छोटों की जगह जब बड़ा मारा जाता है, तब हिंसा अपने स्पष्टतम रूप में हमारे सामने खुलती है.

ख़ैर. ह्वेल शार्क हमारी प्रजाति के लिए अहिंसक ही है. लेकिन हम-मनुष्य भला प्रतिकार में दया क्यों करने लगे भला? सो हमने एक दूसरा जीव इस मत्स्य के सामने प्रस्तुत किया. वह जो पॉलीथीन की थैली है. वह जो हमसे मुँह चुरा रही है, लेकिन जो इस ह्वेल शार्क से कहीं अधिक भयावह है.

ह्वेल शार्क इस पॉलीथीन को खाकर मर सकती है. उस-जैसे ढेरों बड़े-छोटे जीव रोज़ पॉलीथीनों-प्लास्टिकों के कारण मारे जा रहे हैं. बड़ी पन्नियों के छोटे टुकड़े मायक्रोप्लास्टिकों में टूटकर ह्वेलों-मछलियों-कछुओं से होते हुए मनुष्यों की देहों में समा रहे हैं. इंसान अब हड्डी-मांस-चमड़ी का ही नहीं बना, वह प्लास्टिक का भी बन रहा है.

चित्र को देख कर सोचता हूँ न जाने यह ह्वेल शार्क किस महासागर में रहती हो. अथवा रहता हो. न जाने इसके परिवार में कौन-कौन हो. कितने बच्चे हों, जो इसपर निर्भर हों. इसे हमारे प्लास्टिक-प्रदूषण से न जाने कितनी समस्या हो रही हो, जो यह बता न पा रही हो. और फिर ख़्याल आता है कि न जाने यह पॉलीथीन कहाँ का हो. लखनऊ का, दिल्ली का, बेंगलुरु का या किसी अन्य देश के किसी अन्य शहर का.

क्या होगा अगर ये ह्वेल शार्क और इस जैसे प्लैंक्टन- भोजी जीव मारे गये? प्लैंक्टन ज़ाहिर है, बढ़ेंगे. हरे प्लैंक्टन-समूहों से महासागर पट जाएँगे. सूर्य का प्रकाश भीतर प्रवेश न कर सकेगा. नतीजन सारी ऑक्सीजन ख़र्च. फिर इनकी भी मौत. फिर क्या? महासागर निर्जीव-निःसीम जलराशियों में तब्दील! पानी में दूर-दूर तक न मछली, न कछुआ, न केकड़ा, न घोंघा. सर्वत्र मृत्यु-मात्र!

ह्वेल शार्क का कष्ट सबके हिस्से आएगा, पॉलीथीन की दी हुई पीड़ा भी. जो हम करेंगे, हम-तक अन्ततः लौटेगा.

पॉलीथीन भस्मासुर है.

मुहब्बत के दुश्मन

मैंने मुहब्बत के मायने और भी जाने: जब मैंने मोनार्क और मिल्कवीड की प्रेम-कहानी सुनी.

मोनार्क एक तितली है. नाम सम्राटों वाला रखने ने तितली कोई सम्राट-सी दण्डाधिकारिणी भला कहाँ होने लगी! वह तो प्रेमिका थी, प्रेमिका है और प्रेमिका ही रहेगी न! और प्रेम भी कोई ऐसा-वैसा प्रेम भला!

मोनार्क का आशिक़ मिल्कवीड नामक पौधा है. एक जंगली फूलों वाली ज़हरीली खरपतवार-प्रजाति. हम जिसे अपने अनुकूल नहीं पाते, उसे जंगली और ज़हरीली कहने से बाज़ नहीं आते. अब मिल्कवीड ने तो कहा नहीं कि मनुष्य-जाति मेरी शान में क़सीदे पढ़े. वह तो बस खिला है, तो खिला है. उस पर मोनार्क तितली मँडराती है, उसे अपने मुखांग से चूमती हुई. वह उसे रस देता है और उसकी सन्तानों को अपनी पत्तियों का आहार.

मोनार्क की निष्ठा मिल्कवीड पर एकोन्मुखी है. यह तितली किसी अन्य प्रजाति के पौधे पर पल-बढ़ नहीं सकती. अब ऐसे में अगर मिल्कवीड के अस्तित्व पर संकट आया, तो मोनार्क उसके साथ मिटेगी. मिल्कवीड एक बनफूल है. अब जब वन ही मिट रहे हैं, तो वनफूलों पर कौन महामृत्युंजय काम करे! मिल्कवीड

की आबादी भी घट रही है. नतीजन मोनार्क तितली का अस्तित्व संकट में है.

मिल्कवीड किन्तु एकोन्मुख नहीं. उसपर अनेक प्रजाति के कीड़े-मकोड़े फलते-फूलते हैं. संसार-भर में मोनार्क-तितलियाँ रूमानियत की पर्याय बनी हुई हैं और तितली-प्रेमी पुरज़ोर कोशिश कर रहे हैं कि उनकी संख्या में कमी न आने पाए.

मोनार्क के कारण मिल्कवीड का परागण होता है, उसकी वंशबेल चलती है. मिल्कवीड के कारण मोनार्क की इल्लियों का पेट भरता है और नयी मोनार्क-तितलियाँ अस्तित्व में आती हैं. कीट और पादप, दोनों अपने-अपने परिवारों में संलग्न हैं किन्तु फिर भी एक-दूसरे से प्रेम करते हैं.

अन्तरराष्ट्रीय स्पेस स्टेशन पर मोनार्क तितलियों का प्रजनन वैज्ञानिकों ने कराया. मैं नहीं जानता कि प्रेमिका तितली की सन्तानों को विज्ञान ने अन्तरिक्ष में किस तरह पाल कर बड़ा किया- सम्भवतः वे मिल्कवीड-युक्त भोजन संग ले गये होंगे.

विज्ञान को प्रेम के मार्ग में नहीं आना चाहिए. भौतिकी-रसायन का कर्त्तव्य है कि वे जैविकी के रक्षक बनें.

(चित्र में प्रणयरत मोनार्क-मिल्कवीड. दूसरे में मोनार्क की सन्तान इल्ली (कैटरपिलर) को अपनी पत्तियों पर पालता मिल्कवीड.)

पिघल रही आफ़त

जो सदियों से जमा हुआ है, पिघलेगा-- आफ़त आएगी!

'ध्रुव' शब्द में धारण-वहन करने का भाव निहित है. ध्रुव हमें धारण करता है, हमारा वहन करता है: इसलिए उसका ध्रुव नाम सार्थक है. लेकिन अगर धारण-वहन करने वाले को ही हम नष्ट करने लगें, तो हमारी बुद्धिमत्ता को क्या कहा जाए!

पृथ्वी के ध्रुव बीमार हैं. उत्तरी और दक्षिणी दोनों. इनमें उत्तरी ध्रुव यानी आर्कटिक की व्यथा-कथा आज सुनिए. निरन्तर गर्म होती पृथ्वी के कारण ध्रुव की बर्फ़ पिघल रही है. वह बर्फ़ भी जो मिट्टी से मिली हुई है और जिसमें अनेक प्रागैतिहासिक पृथ्वी के राज़ दफ़्न हैं. अब जब ये राज़ खुल रहे हैं, तो पूरी दुनिया पर इनका ख़ौफ़ छाया है.

ध्रुव की जमी बर्फ़ीली मिट्टी कहलाती है पर्माफ्रॉस्ट. नाम से ही आप अर्थ निकाल सकते हैं. परमानेंटली फ्रॉस्ट रहता हो जहाँ, वह पर्माफ्रॉस्ट है. यह बारहों महीने जमी अवस्था में रहती आयी है. सदियों से इसी तरह. न जाने कितने जीव, कितने पौधे, कितने जीवाणु, कितने रसायन इस पर्माफ्रॉस्ट के कब्रिस्तान में चुपचाप सदियों से सोये रहे. अब इंसान की गर्मी से यहाँ बहुत कुछ मनहूस जाग रहा है.

सायबेरियाई टुंड्रा में घूमते वैज्ञानिकों-शोधकों को बर्फ़ में एक छेद दिखता है और उससे ऊपर को उठे-तैरते कुछ लकड़ी के लट्ठे. लेकिन ठहरिए: ये लकड़ी है ही नहीं, ये तो हड्डियाँ हैं! प्रागैतिहासिक जीवों की हड्डियाँ! प्लीस्टोसीन काल के मैमथों व अन्य जीवों के कंकाल!

प्राचीन जीवों के अवशेषों का प्रकट होना अपने साथ बड़ी मुसीबतें लाया है. ढेर सारी मात्रा में मीथेन व कार्बनडायऑक्साइड बनने-निकलने लगी है. जीवाणु ख़ूब पनप रहे हैं, क्योंकि मौसम अब गर्म और उनके अनुरूप है. अनेक विषाणु जो अब तक सुप्तावस्था में डॉर्मेंट पड़े थे, सक्रिय हो चले हैं. न जाने इनमें कौन-कौन सी सो रही बीमारियाँ हों, जिन्हें हम जानते भी न हों! और फिर रिसने लगे हैं सागर-जल और वायुमण्डल में पारे जैसे ज़हरीले तत्त्व.

पर्माफ्रॉस्ट में हज़ारों टन कार्बन दफ़्न है. पृथ्वी-भर के जंगलों से तिगुना और वायुमण्डल में मौजूद कार्बन से दुगुना. सोचिए यह सब जब पिघल-पिघल कर जीवाणुओं द्वारा छूटेगा, तो पृथ्वी की क्या हालत करेगा! यह ध्रुवीय इलाक़ों पर किसी 'कार्बन-बम' की तरह है, जिसके फ़टने से पूरी दुनिया जहन्नम बनती जाएगी!

पूरी दुनिया की तुलना में आर्कटिक दुगुनी तेज़ी से गर्म हो रहा है. पर्माफ्रॉस्ट के पिघने से नये हरे-भरे इलाक़े जन्म ले रहे हैं और नयी झीलें-तालाब भी. हिमहीन होने से जन्मती यह सुन्दर हरियाली भयानक है. इन स्थानों पर तमाम जगह उठते बुलबुलों में जीवाणुओं की क्रीड़ाएँ चल रही हैं, जो चिन्ता का सबब हैं.

सन् 2016 में रेंडीयरों के चरवाहे बीमार पड़ने लगे, तो डॉक्टरों ने खोजबीन की. एक लड़के और ढाई हज़ार रेंडीयरों की मौत का कारण एन्थ्रैक्स नामक रोग निकला, जो जीवाणु से फैलता है. यह जीवाणु इस हिम में सुप्त पड़ा था. बर्फ पिघली और यह सक्रिय हो गया. नतीजन एन्थ्रैक्स पुनः फैलने लगा. अब सोचिए न जाने इस हिम-शैया में स्वाइन फ़्लू से लेकर चेचक तक और न जाने कौन-कौन से अज्ञात रोग सोये पड़े हों, जिन्हें हमारी बाज़ारवादी मूर्खता जगा रही है!

डर लगता है जब विज्ञान प्रयोग के लिए 30 000 साल पुराने पर्माफ्रॉस्ट के टुकड़े को लेता है और उसे गर्माता है. उसमें सोया विषाणु जाग उठता है, तीन सौ सदियों बाद! लैब से बाहर कुदरत में यह पिघलन आत्मघाती स्थिति ला रही है. सब-कुछ जो गुप्त-सुप्त है, उसे जगाकर.

पारे जैसे भारी तत्त्व भी आर्कटिक की बर्फ़ में दफ़्न हैं. आर्कटिक में संसार का सबसे अधिक पारा मौजूद है. कार्बनिक पदार्थ से संयुक्त यह बर्फ़ीली मिट्टी में गड़ा पड़ा है. अब जब बर्फ़ पिघल रही है, तो यह सब पानी और हवा में छूट रहा है और हमारी खाद्य-शृंखला में शामिल हो रहा है.

भुतहा फ़िल्मों में तहखाने में सोये शैतान को जगाना सबसे बड़ी शुरुआती ग़लती होती है. फ़िल्म के साथ किन्तु यह सुखान्त जुड़ा होता है कि अन्त में शैतान का मरना तय है. जीवन फ़िल्म नहीं है, न हर शैतान को हीरो मार सकता है. कई बार शैतान हीरो को मारकर फ़िल्म का नायकत्व पलट देते हैं.

ध्रुव को धारण किये रहने दीजिए, वह जो अप्रिय है. उसका वहन वही कर सकेगा. अन्यथा उसने अपना उत्तदायित्व त्यागा, तो ढेरों अपने प्राण त्यागेंगे.

छूट रहा है क़ैद पारा

हवा का चढ़ेगा पारा,
नसों में बढ़ेगा पारा,
मरेगा कौन?
संसार सारा! संसार सारा!

वायुमण्डल नित्य गर्म किया जा रहा है. विलास के लिए लोग पृथ्वी को भट्ठी बनाने पर उतारू हैं. बीतेगी, तो सब पर बीतेगी! तब देखा जाएगा! मरेंगे, तो सब जाएँगे!

आर्कटिक में संसार का ढेर सारा पारा क़ैद है, जो अब छूट रहा है. रिस कर हवा, पानी और मिट्टी तीनों को ज़हरीला बना रहा है. पौधों-जानवरों की देहों में शामिल होकर यह अन्ततः मनुष्यों में प्रवेश पा रहा है. नतीजन ढेरों बीमारियों के बढ़ने का वैज्ञानिकों को अन्देशा है.

पारे की कोई न्यूनतम सुरक्षित सीमा नहीं होती. ऐसा नहीं कि इतना पारा अगर आपके भोजन में हो तो चलेगा. पारा विषैला है और तन्त्रिका-तन्त्र, गुर्दों व प्रतिरक्षा-तन्त्र पर इसके गम्भीर दुष्प्रभाव पाये गये हैं. तीन तरह से यह पाया जा सकता है: धातु के रूप में, अकार्बनिक यौगिकों के रूप में और कार्बनिक इथाइल व मिथाइल रूपों में. इनमें इथाइल-मिथाइल स्वरूपों में पारा सर्वाधिक हानिकारक होता है.

पर्यावरण में पारा कहाँ से आया? सर्वाधिक उन कारीगर-खनिकों के कारण आया, जो स्वर्ण-खनन में लगे हैं. फिर कोयला व अन्य ईंधन जलाने से हवा में छूटा. छूटने के बाद पारा वहीं नहीं रहा. विष ने अपनी स्थानीयता छोड़ी और व्यापकता पायी. इस तरह से अफ्रीका और भारत में जलाया कोयला आर्कटिक पहुँचा और वहाँ के पौधों-जीव-जन्तुओं में शामिल हो गया.
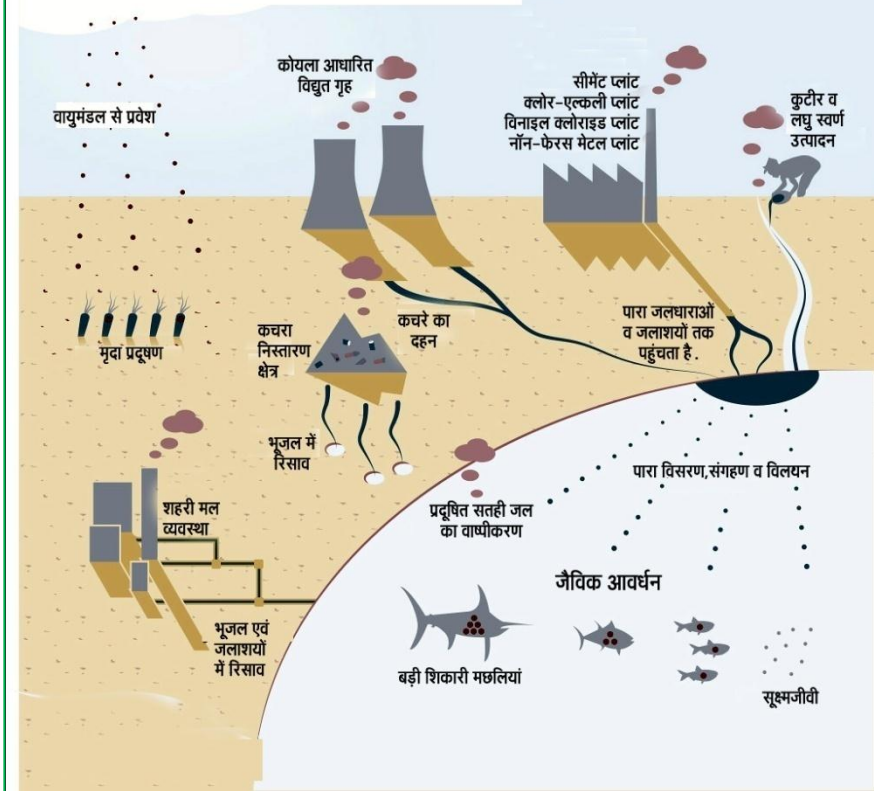
संसार-भर का हवा-पानी-भोजन संयुत है, साझा है. जो हम खा-पी रहे हैं, वह दुनिया-भर का प्रभाव लिये है. हमारा छोड़ा पारा कनाडा के किसी बच्चे के फिश-रोल में जा रहा होगा ; उनका छोड़ा पारा सागर से होता हमारे बंगाली माछ-भात में आ रहा होगा. ज़हर की सच्चाई यही है. एक अगर उसे छोड़ेगा तो न जाने कौन उसे झेले. सब इसी तरह एक-दूसरे के किये को सहेंगे और बीमार पड़ेंगे.

जंगल-मंगल

सारे जंगल एक-से नहीं, उनके मंगल भी एक-से नहीं!

समझ की शुरुआत जंगलों के पेड़ों का झुण्ड समझने से होती है. किसी से पूछिए कि जंगल क्या है, कहेगा जहाँ पेड़ों का मोहल्ला हो ख़ासा बड़ा-- वही जंगल है. थोड़ा और समझदारी वाला जवाब माँगिएगा तो उत्तर देगा, वहाँ जंगली जानवर भी मौजूद हों. यानी 'जहाँ पेड़ों की बड़ी आबादी हो और वे जानवर मिलते हों, जो शहरों में खुले नहीं विचरते'-- यही जंगल की कामचलाऊ परिभाषा मान ली जाती है.

जंगल से प्रेम करना अच्छी बात है, लेकिन जिससे प्रेम किया जाए, उसे समझा भी जाए. बिना समझे प्रेम करने की एक सुविधाजनक सीमा है. उसके आगे प्रेम असुविधा देता है. लेकिन जंगलों को बचाना है तो इस असुविधा-अरण्य में प्रवेश पहले ज़रूरी है.

जंगलों को वर्गीकृत करने के कई ढंग हैं: सबसे आसान पर आते हैं. संसार-भर में तीन तरह के जंगल हैं. यह मोटा-मोटा विभेद है. विषुवत रेखा के आसपास पाये जाने वाले वर्षावन जिन्हें ऊष्णकटिबन्धीय वन या ट्रॉपिकल रेन फ़ॉरेस्ट कहा जाता है. फिर आते हैं शीतोष्ण वन जो विषुवत वृत्त से हटकर थोड़ा उत्तर व दक्षिण की तरफ मिलते हैं. अन्त में तीसरा जंगल-प्रकार बोरियल जंगल जा टैगा कहलाता है.

ऊष्णकटिबन्धीय वन कहाँ हैं? इनका सबसे बड़ा इलाक़ा दक्षिणी अमेरिका की अमेज़ॉन नदी के इर्दगिर्द है. ब्राज़ील-सरकार इसे काटकर शहरी विकास चाहती है. ऐसे थोड़े वन अफ्रीका में भी हैं और दक्षिण-पूर्वी एशिया में भी. इन सभी वनों पर उद्योगपतियों की गिद्धदृष्टि है कि कैसे इनके संसाधनों का दोहन करें. किसी को वहाँ कोयला दिख रहा है तो किसी को चमचमाते मॉल. जंगल के इन घने पेड़ों व उनमें छिपे जीवों की किसी को परवाह नहीं!

ऊष्णकटिबन्धीय वनों में थोड़ी जगह में ही तरह-तरह के पेड़-पौधे पनप जाते हैं. घने इतने कि सूरज की धूप धरती तक पहुंच न पाये. बरसात ख़ूब होती है. मिट्टी में पानी पड़ते रहने के कारण पोषक तत्त्व कम होते हैं और कार्बनिक पदार्थ सड़ते रहते हैं. यहाँ हमेशा गर्मी का मौसम रहता है. संसार की ढेरों जीव-प्रजातियाँ

पायी जाती हैं. इन्हीं कारणों से ये ऊष्णकटिबन्धीय वन जैव-विविधता विविधता के भण्डार हैं.

दूसरे प्रकार के वन शीतोष्ण हैं. ये उत्तरी अमेरिका के पूर्वी हिस्सों, उत्तरपूर्वी एशिया व यूरोप में बचे हुए हैं. यहाँ ठण्ड भी ख़ूब पड़ सकती है और गर्मी भी ठीकठाक. (तापमान -30 डिग्री सेल्सियस से 30 डिग्री सेल्सियस तक जा सकता है.) यहाँ पेड़ अपेक्षाकृत कम घने होते हैं, धूप धरती तक आती है. पत्ते ख़ूब गिरते रहते हैं और उनके सड़ने से मिट्टी उपजाऊ बनी रहती है. पेड़ों में विविधता ऊष्णकटिबन्धीय वनों से बहुत कम होती है. यहाँ अलग तरह के जानवर पाये जाते हैं.

तीसरे तरह के वन बोरियल वन या टैगा हैं. ये शीतोष्ण वनों से भी उत्तर में पाये जाते हैं. सायबेरिया, अलास्का, कनाडा व स्कैंडिनेविया के इलाक़ों में ये बचे हुए हैं. यहाँ शङ्कावाकार वृक्ष होते हैं, जिनकी पत्तियाँ सुईनुमा होती हैं. इन जंगलों में लम्बा बर्फ़ीला जाड़ा और छोटी हल्की गर्मी पड़ती है. धूप नीचे तक नहीं पहुँच पाती. इनकी हिमाच्छादित मिट्टी बहुत उपजाऊ नहीं होती और यहाँ पेड़-पौधों व जानवरों को इसी के अनुसार ढल जाना पड़ता है.
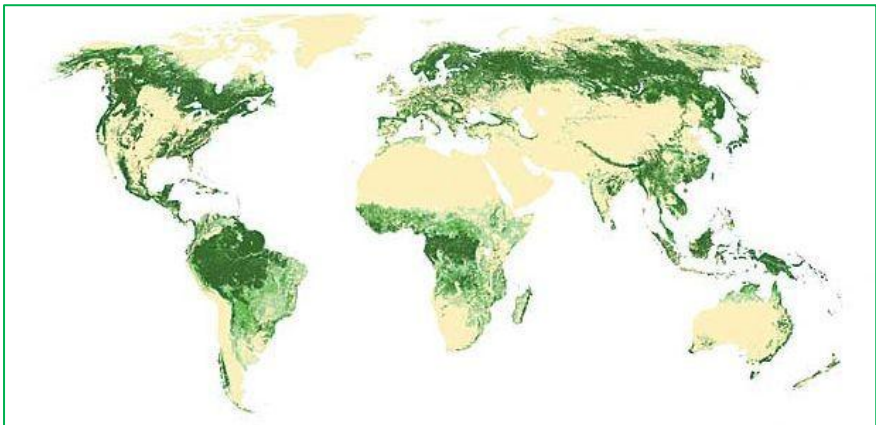
1. ऊष्ण कटिबंधीय वर्षा वन 2. शीतोष्ण वन 3. बोरियल या टैगा वन

इन तीन क़िस्म के जंगलों के और भी उप-प्रकार हैं, लेकिन उन्हें अभी जाने देते हैं. यह हर व्यक्ति को जानना चाहिए कि जंगल के मोटे-मोटे तीन प्रकार कौन से हैं और कहाँ पाये जाते हैं. तीनों प्रकार के ये जंगल कार्बन को सोख कर वायुमण्डल में कार्बन डायऑक्साइड की मात्रा नियन्त्रित रखते हैं और इस तरह ग्लोबल वॉर्मिंग से लड़ने में हमारा साथ देते हैं. जंगल मिट्टी को बाँध कर रखते हैं, इस मिट्टी में तरह-तरह के जीवाणु होते हैं. वैज्ञानिकों ने शोध में अनेक ढंग से जंगलों को कार्बन डायऑक्साइड को सोखते हुए पाया है.

पेड़ लगाना जंगल बचाना नहीं है. पेड़ लगाने से कोई विरोध नहीं, लेकिन जंगल केवल पेड़ नहीं होते. जंगल केवल वृक्ष-समूहों को नहीं कहा जा सकता. संसार-भर में एक तिहाई दुनिया में अब भी ये बचे हुए हैं, लेकिन तेज़ी से विकास के नाम पर काटे जा रहे हैं.

आपका निकटतम जंगल आपसे कितनी दूर है? आप उससे कटते-कटते कैसे हो गये? वह कटा, आप भी कट गये?

जंगलों का शाप

काटो जंगल, करो अमंगल!

जंगल काट कर जीडीपी उठाने की होड़ जारी है. लोगों को मॉल चाहिए, उन्हें नित्य शॉपिंग का चस्का लग चुका है. ऐसे में पेड़, जानवर, तालाब, नदी, समुद्र, पहाड़, हिमनद, हवा जैसी बातों पर न अधिसंख्य ध्यान देते हैं, न देना चाहते हैं.

जंगल को काटने से ढेरों बुरे बदलावों से हम-आप रू-ब-रू होते हैं. जंगल कुदरत की अच्छाइयों-बुराइयों के घरौंदे हैं, उन्हें बेलगाम काटना दरअसल कीटाणुओं और बीमारियों को गाँवों-शहरों में बुला लेना है, जो अब-तक घने पेड़-पौधों में हमसे कहीं दूर निवास कर रहे थे. जंगल उन्हें अपने आग़ोश में समेटे था: आदमी आया, उसने जंगल को नष्ट किया. अब मुसीबत उसके सिर!

मलेशिया वालों को दुनिया-भर में पाम ऑयल बेचना है. वे अपने वर्षावनों को काटे डाल रहे हैं. वहाँ मलेरिया के रोगी बेतहाशा बढ़ रहे हैं. जंगलों में रहने वाली प्रजातियाँ शहरों की ओर भाग रही हैं: मच्छर भी और उनके पोषक बन्दर भी. यह असन्तुलन मनुष्यों में जंगल से बीमारी ला रहा है. बीमारियों की यह वृद्धि केवल मच्छरों तक सीमित नहीं. दुनिया के अलग-अलग देशों में तमाम घोंघे व चमगादड़ भी अपने वन-निवासों से विस्थापित हो रहे हैं और बीमारियाँ इंसानों को दे रहे हैं.

लगभग 60% प्रतिशत संक्रामक रोग ऐसे हैं, जिन्हें हम जानवरों-पक्षियों के साथ बाँटते हैं. हम ही नहीं उन्हें झेलते, ये जन्तु भी झेलते हैं. अब इंसान अपने मकान-मॉल के चक्कर में जंगल काटेगा, तो परजीवियों व अन्य कीटाणुओं के ये होस्ट जानवर भी मरेंगे. नतीजा ये परजीवी नये होस्टों की तलाश में शहर भागेंगे और हमें बीमार करेंगे.

हम अपने जीने के लिए अपार्टमेंट बना रहे हैं, मच्छर का अपार्टमेंट हमें छीन लिया. अब वह हमें अपने भोजन के लिए इस्तेमाल करेगा. हम उसके घर में गये और उसे बाहर निकाला. अब वह हमें मलेरिया-जैसे रोग उपहार में देगा. और ध्यान रहे, जो मच्छर जंगल से शहर में पनपने की कोशिश करेगा व सफल होगा, उसमें वेक्टर-कॉम्पिटेंस यानी परजीवियों को धारण करने की योग्यता साधारण मच्छरों से कहीं बेहतर होगी.

महानगरों में डेंगी की हर साल लहर उठती ही हैं, जानें जाती हैं. जंगलों की कटाई से मलेरिया, सार्स, ज़ीका, इबोला सिस्टोसोमियासिस और लेप्टो-स्पायरोसिस जैसे रोग बढ़ रहे हैं. चाहे वहाँ खेत बनायी जाए या सड़क निकाली जाये, जो भी जंगल की जगह लेगा, वह जोखिम को न्यौता ज़रूर देगा. जंगल दरअसल पेड़ों-पौधों-जानवरो-कीड़ों-पक्षियों का समूह-भर नहीं है: वह एक जैव विविधता (बायोडायवर्सिटी) का स्थान है, जहाँ ढेरों ज़िंदगियाँ मनुष्य से दूर अपना परस्पर गुज़र-बसर करती चली आ रही हैं.

जंगल में जो कुछ भी छिपा सो रहा है, उसे यथासम्भव न जगाया जाए. अगर नौबत पड़े, तो न्यूनतम प्रयास किये जाएँ. मनुष्य अपनी विलासिता पर लगाम नहीं लगाएगा, तो अभी ढेरों नये रोग हरियाली से निकल कर उस पर धावा बोलेंगे.

जंगल को बेलगाम काटा जाएगा, वह शाप देगा.

पनघट की डगर!

उसे भोजन में चावल पसन्द हैं और बाइक पर घूमना भी. इसलिए उस पृथ्वीवासी युवा को मीथेन गैस को थोड़ा जानना चाहिए.

पृथ्वी नित्य गर्म हो रही है. उसके वायुमण्डलीय तापमान में ग्रीनहाउस गैसों की बढ़ती मात्रा उसे गर्म कर रही है. ग्रीनहाउस गैसें वे गैसें हैं जो पृथ्वी के वायुमण्डल में सूर्य से आयी किरणों को बन्धक बना लेती हैं. यानी सूर्य पृथ्वी तक किरणें भेजता है, वे पृथ्वी पर पड़ती हैं और फिर टकरा कर वापस लौटना चाहती हैं. कुछ किरणें तो लौट पाती हैं, अन्य नहीं. जो नहीं लौट पाती, उन्हें कहते हैं अवरक्त किरणें (इंफ्रारेड किरणें). इन अवरक्त किरणों के वायुमण्डल से न निकल पाने को ही ग्रीनहाउस-प्रभाव कहा गया है और इसी कारण पृथ्वी गर्म हो रही है.

ग्रीनहाउस गैसों में सबसे प्रमुख और चर्चित है कार्बन डायऑक्साइड. सभी इसे जानते हैं. हम-सब इसे परिचित खलनायक समझते हैं. ग्रीनहाउस-प्रभाव में सर्वाधिक योगदान इसी गैस का है. अन्य प्रमुख ग्रीनहाउस-गैसें हैं मीथेन, नायट्रस ऑक्साइड एवं फ़्लोरोकार्बन. चलिए, आज थोड़ी बात मीथेन पर की जाए.

अगर ग्रीनहाउस की गर्मी के सन्दर्भ में कार्बन डायऑक्साइड शत्रु संख्या 1 है, तो मीथेन शत्रु संख्या 2. लेकिन यह दूसरा शत्रु कुछ मायनों में पहले शत्रु से भी अधिक मारक है. मीथेन के एक अणु का ग्रीनहाउस प्रभाव कार्बन डायऑक्साइड के एक अणु की तुलना में तीस गुना अधिक है. यह तो भला हो कि मीथेन की मात्रा वायुमण्डल में इतनी है नहीं, अन्यथा यह भट्टी हो चुकी पृथ्वी रहने लायक न बचती!

मीथेन की मात्रा वायुमण्डल में पिछले 150 सालों में दुगुनी हो चली है. अभी भी बढ़ रही है. इक्कीसवीं सदी के आरम्भ में कुछ सालों के लिए ऐसा लगा था कि यह बढ़त थम गयी है. लेकिन नहीं. मीथेन-उत्सर्जन फिर बढ़ने लगा और अभी भी जारी है.
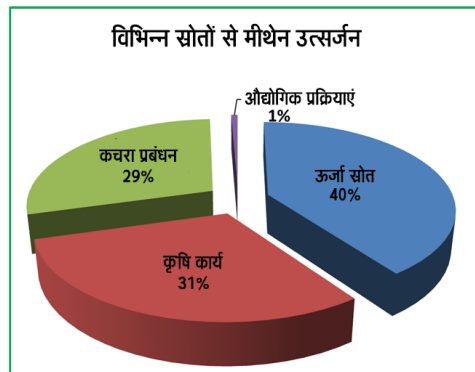
मीथेन कौन बनाता है? कैसे बनती है? कहाँ से निकलती है? ये प्रश्न बड़ा महत्त्व रखते हैं और इनके उत्तर जानने चाहिए. जीवाश्म-ईंधन प्राकृतिक गैस, डीज़ल एवं पेट्रोल को निकालते समय मीथेन वायुमण्डल में छूटा करती है. ये ईंधन पूरी दुनिया इस्तेमाल करती है. इनका इस्तेमाल लगातार बढ़ रहा है. नतीजन मीथेन-उत्सर्जन भी बढ़ रहा है.

लेकिन कुछ और बड़े महत्त्वपूर्ण कारण भी हैं. प्राकृतिक दलदली इलाकों में भी यह गैस बना करती है. वहाँ मौजूद जीवाणु इसे बनाते और हवा में छोड़ते हैं. फिर आती है धान की खेती. संसार में ढेरों लोगों का पेट चावल पालता है. धान के खेतों में रुका हुआ पानी जीवाणुओं के लिए वृद्धिकारक है. नतीजन इन खेतों से भी ख़ूब मीथेन हवा में छूटा करती है. डेयरी के लिए पाले गये जानवर गाय-भैंस भी अपने पाचन-तन्त्र में मीथेन बनाने वाले जीवाणु रखते हैं. नतीजन गोबर जहाँ है, मीथेन वहाँ से भी निकला करती है.

संसार-भर के वैज्ञानिक मीथेन के बढ़ते हुए कारणों पर चर्चारत हैं. सामान्य सोच है कि प्राकृतिक गैस, डीज़ल, पेट्रोल की खपत बढ़ने से मीथेन बढ़ी होगी, लेकिन सच इतना नहीं है. धान के खेत भी बढ़े हैं क्योंकि बढ़ती जनसंख्या को अपना पेट पालना है. जंगल काट कर चारागाह भी बने हैं और डेयरी-पालन भी बढ़ा है. इन सबने मीथेन को अपने-अपने ढंग से बढ़ाया है.

विकसित दुनिया अगर दूध और मांस से दूर भाग रही है, तो इसके पीछे जंगलों की कटाई और जानवरों के मल द्वारा मीथेन-उत्सर्जन है. इसी कारण वहाँ अब पूर्ण शाकाहार चलन में है और बढ़ रहा है. धान की खेती में भी नयी-नयी तकनीकें विकसित की जा रही हैं. कुछ ऐसा किया जाए कि खेतों में पानी लगातार न बना रहे. कुछ देर रहे और फिर खेत सूखे भी रहें. इससे जीवाणु घटेंगे. पनप नहीं पाएँगे. मीथेन कम छूटेगी.

लेकिन फिर धान की ऐसी खेती के विरोध में विज्ञान का एक दूसरा पक्ष है. पानी को लगातार रोक कर न रखने से मीथेन बनना तो घटा, लेकिन नायट्रस ऑक्साइड बनना बढ़ने लगा. अब यह तीसरी ग्रीनहाउस-गैस है, जिसका मैंने शुरुआत में नाम लिया था. यानी मीथेन बनाने वाले जीवाणु तो घटे, किन्तु नायट्रस ऑक्साइड बनाने वाले बढ़ गये. अब क्या किया जाए! आसमान से गिरे हम और खजूर में अटके!

पर्यावरण बदलने से ढेरों स्थानों पर बारिश बढ़ी है. वहाँ नये दलदलों में जीवाणुओं की आबादी बढ़ी है. आर्कटिक-जैसे इलाक़ों में पिघली बर्फ़ में भी जीवाणु बढ़ने से मीथेन का निर्माण बढ़ता जा रहा है. इन सब कारणों को देख कर वैज्ञानिक यह निष्कर्ष निकाल रहे हैं कि मीथेन-निर्माण और मीथेन-नियन्त्रण कार्बन डायऑक्साइड निर्माण व नियन्त्रण से कहीं अधिक जटिल और पेचीदा है.

आपके आसपास मीथेन कहाँ है? पहचानिए मीथेन-जन्मस्थलों को. क्या आप पृथ्वी के वायुमण्डल में मीथेन घटाने में किसी रूप में योगदान दे सकते हैं? सोचिएगा.

सेल का खेल

कपड़ों की खरीद के समय आप कॉन्शेन्स के साथ रहते हैं, अथवा कंज़्यूमेरिज़्म के साथ?

अपनी पहुँच बिचारि के, करतब कीजे दौर.
तेते पाँव पसारिए, जेती लाँबी सौर. (वृन्द)

यहाँ 'अपनी' का अर्थ लोग व्यक्तिगत मान बैठते हैं. लेकिन अनेक 'अपनी-अपना-अपने' सार्वजनिक भी होते हैं. वे समूहबोध कराते हैं, सामूहिक होते हैं लेकिन सर्वनाम वैयक्तिक पहनते हैं. सामूहिकता-सावर्जनिकता को निजता पहना देने से वह अधिक आकर्षक लगने लगती है.

इस बोध को बाज़ार अच्छी तरह जानता है भुनाता भी है. हर गर्मी-बरसात-सर्दी में वह सेल लगाता है. सेल में व्यापारी को अपना पुराना माल निकालकर मुनाफ़े और बिक्री-स्थान की रक्षा करनी है. लोग बाज़ारों उतरते समय केवल प्राइस-टैग देखते हैं. यह कितने का है, मेरी जेब में कितने हैं. जेब में जितने हैं, उससे कम है और आकर्षक भी, तो ले डालूँगा.

कपड़े धागे से बनते हैं. धागे खेत में उगाये जाते हैं अथवा फ़ैक्ट्रियों में बनाये जाते हैं. उगाने-बनाने में बिजली लगती है, पानी भी. फिर धागे से कपड़ा बनता है, कपड़े से परिधान. फिर परिधान पैक होता है, वितरित होता है और बेचा जाता है. ऊर्जा की इतनी खपत के बाद अब वह कस्टमर के हाथों में है.

कस्टमर उसे पहनता है. आवश्यकतानुसार धोता है. अमूमन ऊपरी देह के कपड़े टीशर्ट-शर्ट इत्यादि निचली देह के कपड़ों जींस-पैंट्स इत्यादि से कहीं अधिक धोये जाते हैं. फिर उन्हें अनुसार प्रेस किया जाता है. यह क्रम तब तक चलता है, जब तक कपड़ा फट नहीं जाता. फटने पर उसे कस्टमर त्याग देता है.

अनफटे किन्तु त्यागे कपड़ों की संख्या बेतहाशा बढ़ी है. कपड़े अब न गीता की परिभाषा को मानते हैं, न शरीर. 'वासांसि जीर्णानि यथा विहाय' अब नहीं चलता. अब आत्मा शरीर के जीर्ण होने का इंतज़ार नहीं करती. वह सेल में जाकर तुरन्त नये शरीर खरीदती है. कुछ पूछने पर कहती है कि मेरा पैसा है, मैं चाहे सेल का माल खरीदूँ अथवा बैंक में सड़ाऊँ! आपसे मतलब! आप कौन होते हैं टोकने वाले! ऐसी आत्माओं से कहना पड़ता है कि हाँ, मतलब है. बहुत बड़ा.

आपके साथ ग्रह बाँटना पड़ रहा है, हवा और पानी भी. आपके साथ भोजन बाँटना पड़ रहा है और रिहाइश भी. आपके साथ चूँकि इतना सब-कुछ साझा है, इसलिए आपकी अय्याशी सालती है! आप मंगल पर रहते, तो शायद कुछ न कहते आपसे!

आत्मा को गीताकार ने ब्रह्म का अंश कहा. क्यों कहा, इसपर विस्तार से बात की जा सकती है. लेकिन इसलिए भी कहा क्योंकि आत्मा फ्रूगल है, सन्तोषी है. वह सेल में जाकर कपड़े नहीं खरीदती, कपड़े फटने तक उसी कपड़े में रहती है. ईश्वरीयता का जो गुण गीताकार हमें बता रहे हैं, वह सन्तोष ही है. सेल में जाओ, किन्तु जब ज़रूरत हो. तब शरीर बदलो. प्राइसटैग के अनुसार ललचाऊ सस्ता शरीर-विलास त्याग दो.

कॉटन के कपड़े को बनाने और सहेजने में अलग मात्रा में कार्बन-उत्सर्जन होता है, पॉलिस्टर के मामले में अलग. क्या आपको पता है कि आपके पास कितने कपड़े किस फ़ैब्रिक के हैं? क्या आपके पास कोई रीसायकिल्ड कपड़ा भी है? पुरानी पीढ़ी को चाहे इन बातों का पता हो, नयी को खाली प्राइसटैग और शोरूम याद होगा. वह भी मात्र कुछ दिनों के लिए! इति. मेरा भी यही हाल था कुछ साल पहले तक. हम-सभी का होता है. हम-सभी को किन्तु ग्रो करना चाहिए. शोरूम की शोबाज़ी से बाहर की दुनिया में लगे हरे पेड़ों को गिनने में भी बड़े काम की गणित है!

सेल के मेल से बचिए. विण्डो-शॉपिंग के लिए चक्षु-द्वार बन्द करिए. सेल में अनावश्यक जाना ही बाज़ार के जाल में फँसकर पर्यावरणविरोधी होना है. आत्मा ब्रह्म का अंश तभी तक है, जब तक वह वसन की जीर्णता में प्रतीक्ष्य है. अन्यथा वह कॉन्शेन्स नहीं है, कंज़्यूमरिज़्म है जिसने आत्मा को उसके घर से स्थानापन्न कर दिया है.

ऐसी आत्माओं का आह्वान कीजिए: तुम अपने वसन-भवन से क्यों निकाली गयी? तुम्हारे घर में वह जो रह रहा है, वह वस्त्रलोभी कौन है?

पेड़ों की यात्रा

पुराना विलास भी अगर शिक्षापरक है, तो उससे नये विकास को सीखना चाहिए.

फ्रांस के सम्राट् लुई चौदहवें को दुनिया वर्साय के राजमहल के लिए याद रखती है. लेकिन पर्यावरणीय सन्दर्भ में जिस कारण से लुई को याद किया जाना चाहिए, वह वर्साय का उपवन है.

लुई ने तय किया कि अपने पिता के शिकारगाह के स्थान पर ही एक ऐसा महल तैयार किया जाएगा, जैसा न पहले कहीं रहा हो, न आज हो. राजाओं-महाराजाओं में 'न भूतो, न भविष्यति' का रोग पुराना रहता आया है. बल्कि न भूतो, न भविष्यति की सोच-मात्र ही व्यक्ति को लोकतान्त्रिक नहीं, राजतान्त्रिक सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है. 'न हुआ, न होगा' को मानने में बहुत बड़ा श्रेष्टताबोध छिपा हुआ है. झूठा.

लेकिन लुई को अपने इस स्वप्न-महल के लिए वृक्ष चाहिए थे. पेड़ लगाये जाते, तो समय बहुत लगता. वे काफी देर के बाद बड़े होते, तब छायादार-फलदार रूप लेते. इतना समय भला महाराज के पास कहाँ! उन्हें तो तत्क्षणों की आदत जो रहा करती थी! सो उन्होंने जंगलों से पेड़ उखड़वाये और उन्हें अपने बाग़ों को रोपवा दिया. पेड़-के-पेड़ साबुत, यथावात् उपवनों में लगा दिये गये. फ्रांस के सम्राट् को इच्छित छाया और फल, दोनों सहज ही मिल गये.

इस पुरानी घटना को आज के आधुनिक विकास से जोड़कर देखना चाहिए. आज रास्ते चौड़े करने होते हैं, तो अनेक बाधाओं में एक पेड़ भी होते हैं. उन्हें काट दिया जाता है, ताकि सड़क चौड़ी की जा सके. सड़क की आकार-वृद्धि तुरन्त होनी चाहिए, ऑक्सीजन देने वाले, गर्मी घटाने वाले, मिट्टी बाँधने वाले मरते हैं, तो मरें. बाद में देखा जाएगा!

'बाद में देखिए, हमने कितने पेड़ लगवाये' कहने से मामला नहीं सुलझता. एक लाख पत्तों वाला वयस्क वृक्ष विकास के नामपर काटकर अगर आपने चार बीज या कलमें रोप दीं, तो कोई बड़ा काम नहीं किया. पर्यावरण का ऐसा घाव आप दे गये, जो सालों में भरेगा. तब तक जो हवा-मिट्टी-पानी पर बीतेगी, उसकी भरपाई कैसे होगी?

रामचन्द्र अप्पारी का नाम मैं भी नहीं जानता था. लेकिन लुई चौदहवें की सनक मुझे उन के काम तक ले आयी. सनकी ही वह करने का माद्दा रखते हैं, जो राजमार्गी नहीं कर पाते. राजमार्गियों को केवल सड़क चौड़ी होने से मतलब होता है, लेकिन अप्पारी जैसे लोग सड़कों के किनारे लगे पेड़ों को वहाँ से हटवा कर अन्यत्र लगवाते हैं, ताकि उन्हें बचाया जा सके.

पेड़ों को उनकी जड़ों व मिट्टी-समेत बड़ी क्रेनों से हटवाया जाता है. अन्यत्र उनके स्थान के अनुसार ही मिट्टी में उन्हें दोबारा लगवाया जाता है. उनकी वहाँ ढंग से देख-रेख की जाती है. नये पेड़ों को पुरानों की तुलना में हटवाना व लगवाना अधिक आसान रहता है. पेड़ों की प्रजातियों पर भी यह स्थानान्तरण निर्भर करता है.

सड़क-निर्माण में बढ़े खर्चे का क्या? पैसे न लगेंगे? लेकिन क्या ये पैसे उस ऑक्सीजन की तुलना में कुछ हैं, जो इन पेड़ों से मिलती है? क्या ये रुपये अगर बचाये जाते, तो मिट्टी का क्षरण रोक लेते? धन का यह अतिरिक्त व्यय अगर वैश्विक ऊष्मीयता (ग्लोबल वार्मिंग) को रोकने में योगदान देता है, तो ऐसे व्यय को देश के हर राजमार्ग के निर्माण के समय किया जाना चाहिए.

बंधन में नदियाँ

नदी बाँधने की दो कथाओं ने बचपन में मन पर गहरा प्रभाव छोड़ा था. इतना अवश्य प्रबोध हो गया था कि नदियाँ यथासम्भव बाँधी नहीं जानी चाहिए.

पहली कहानी कार्त्तवीर्य सहस्रार्जुन की है. हैहय क्षत्रिय राजा जिसकी राजधानी नर्मदा-किनारे माहिष्मती थी. रानियों के संग क्रीड़ा करते समय अपने हज़ारों हाथों से उसने नर्मदा का वेग रोक दिया और फलस्वरूप रावण से संघर्ष हुआ. रावण को पराजित तो किया किन्तु अहंकार इतना बढ़ता गया कि फिर परशुराम के हाथों मृत्यु मिली.

दूसरी कहानी देवव्रत भीष्म की है. वे गंगापुत्र थे और अपने बाणों से स्वयं गंगा का प्रवाह रोक देने के कारण उन्होंने अपने पिता महाराज शान्तनु को अचम्भित कर दिया था. गंगा ने तभी स्वयं आकर दोनों का परस्पर परिचय दिया और पिता पुत्र को लेकर हस्तिनापुर-राजमहल लौट आये. यही वह घटना रही, जहाँ से महाभारत के कुटुम्ब-संघर्ष की नींव पड़ी.

इन जैसी प्राचीन नदी-बन्धक-कथाओं में कथाकार ने गहरे वैयक्तिक और सामाजिक मनोविज्ञान को उकेरा है. नदी बाँध सकने वाला सामान्य व्यक्ति नहीं, असाधारण रूप से शक्तिशाली है. लेकिन फिर प्राकृतिक शक्तियों को बाँधना अशुभ संकेत है: आगे की कहानी किसी बड़ी अप्रिय घटना की ओर पाठक को ले जाएगी.

बाँधों को बनाने का क्रम काफ़ी समय से मानव-विकास से संयुत रहता आया है. मनुष्यों को पनपने के लिए सभ्यता बनना होता है, सभ्यताएँ पानी की सुचारु व्यवस्था माँगती हैं. मानव-सभ्यताएँ प्रकृति पर भरोसा नहीं कर सकतीं, प्रकृति का व्यवहार पर्याप्त अघोषणीय और सम-विषम रहता आया है. पानी के मामले में यह जोखिम लिया नहीं जा सकता: इसलिए नदियाँ बाँधी गयीं, ताकि उनके पानी का इस्तेमाल पीने, सिंचाई, बिजली और बाढ़ रोकने जैसे महत्त्वपूर्ण कामों के लिए किया जा सके.

बाँध अच्छे है और बाढ़ बुरी, यह सोच मानव-कल्पना में स्थापित कर दी गयी है. मैंने अपने पुत्र से कल ही पूछा कि बेटा, बाढ़ क्यों बुरी है. उसका उत्तर था कि बाढ़ में मनुष्य डूब जाते हैं और जानवर भी. जंगलों के पेड़ टूट कर पानी की धारा

में बह जाते हैं और गाँव-के-गाँव जलसमाधि ले लेते हैं. निश्चय ही वह बाढ़ की विभीषिका से कहीं-न-कहीं परिचित हो चुका था.

लेकिन जिसे वह बाढ़ की विभीषिका मान बैठा था, वह महज़ पानी के बहाव की विभीषिका थी. लोग अक्सर नदी को बहता पानी मानते हैं, इससे अधिक कुछ और नहीं. जबकि नदियाँ केवल धरती की हथेली पर बनी पानी की लकीरें ही नहीं हैं, वे अपने-आप में पूरा जैव-पर्यावरण हैं. नदियों के पानी में असंख्य एककोशिकीय कोलीफॉर्म-जीवाणु से लेकर बहुसंख्य मछलियों-मेढकों-कछुओं-घोंघों-मगरमच्छों-घड़ियालों-पक्षियों तक, सभी नदियों के अंग हैं, सभी मिलकर नदियों का निर्माण करते हैं. ऐसे में जब नदियों के बहावों को छेड़ा जाता है, तो इन सबका जीवन प्रभावित होता है.

नदी बाँधने का उद्यम साधारण प्रभाव नहीं छोड़ता. जीवों के सामने तीन ही

विकल्प होते हैं: बदलो, भागो या मिट जाओ. ऐसे में ज़्यादातर की गति तीसरी होती है. बाँध नदियों के जलबहाव को रोक देते हैं: अनेक जीवों का प्रजनन-अण्ड-उत्पादन-भोजन संग्रहण इससे प्रभावित होते हैं. नदियों द्वारा लायी गई मिट्टी की परतें अब नीचे तक नहीं पहुँचती, बाँधों से छोड़ा गया पानी अपने संग नदियों की मृदा नहीं लाता. नतीजन नदियों के तटों की घटती उपजाऊ क्षमता से लेकर मृदा-अपरदन जैसे ढेरों बदलाव बाँधों के नीचे वाले नदियों के हिस्सों में पैदा होने लगते हैं. मृदा-अपरदन के कारण नदियाँ बाँध से नीचे अपने तटों को और काटती हैं. इससे अनेक जीव-जन्तुओं और पेड़-पौधों के लिए समस्या पैदा होती है. बाँधों के जलाशयों में रुका हुआ पानी कई बार बीमारियाँ पैदा करने वाले कीटाणुओं की नर्सरी बनता है. रुके हुए पानी में मीथेन-जैसी गैसें बनती और वायुमण्डल में उत्सर्जित की जाती हैं, जिनके कारण पृथ्वी और गर्म होती है.

बाढ़ें यदि न हों, तो नदियों के किनारे अपनी उपजाऊ क्षमता खो देंगे. जीव-जन्तु जो हर साल बाढ़ झेलते हैं, उसके अभ्यस्त हैं. मनुष्य ने बाढ़ के साथ तालमेल बिठाने की बजाय बाढ़ को ही रोक दिया. हम तो नहीं बदलेंगे, तुम्हें ही बदलने पर मजबूर करेंगे. नतीजन नदियों को बदलने से जो कुछ हासिल हो रहा है, वह उसकी तुलना में बहुत न्यून है, जिसे हम खो रहे हैं.

समय पनबिजली-परियोजनाओं के पक्ष में नहीं है. वर्त्तमान युग में सौर और वायु-ऊर्जा पर जितनी जल्दी यह गर्म देश स्थानान्तरित हो जाए, उतना यह अपना पर्यावरण बचा लेगा. नदियों का दोहन जितना घटा सकें, घटाना होगा. प्रकृति के जितने भी अवयव हैं-- उन्हें जितना उनके हाल पर छोड़ा जाए-- उतना बेहतर रहेगा.

बाँधों के सुनहरे दिन बीत चुके हैं. पानी को बाँधने वाले जितनी जल्दी यह समझ जाएँ, उतना अच्छा.

भावी जल चक्र!

"तो क्या अब शौचालय का पानी पीना पड़ेगा?" उन्होंने पूछा था.

"अब जब और कोई तरीक़ा नहीं होगा शुद्ध पानी प्राप्त करने का, तो यही एक विकल्प रहेगा. शौचालय से पानी जमा करके उसे 'ट्रीट' किया जाए. शुद्ध करने के पश्चात वह वापस लोगों तक पहुँचाया जाए इस्तेमाल के लिए. पीना-नहाना-धोना सब उसी से फिर."

"यह सोचकर ही घिन आती है! छिः!"

"घिन इसलिए आ रही है आपको क्योंकि आपके लिए पानी की वैकल्पिक सरल व्यवस्था उपलब्ध है. जब तक यह उपलब्धि है, तब तक घिन आती रहेगी. उन देशों से पूछिए, जहाँ यह पद्धति इस्तेमाल में है."

"ऐसे देश हैं जहाँ शौचालय का जल पीते हैं लोग?"

"सिंगापुर में यह हो रहा है, नाइजीरिया में भी. अमेरिका के कुछ क्षेत्र भी इसे कर रहे हैं. भारत और मेक्सिको में भी यह कई जगहों में होने को है. और-तो-और अन्तरिक्ष-यात्री यह काम पहले से करते आ रहे हैं."

"अब ये दिन भी देखने थे!"

"पानी के लिए विश्वयुद्ध हो सकते हैं, गृहयुद्ध भी. अगर पानी की क़ीमत समय रहते न समझी गयी, तो पानी मनुष्य को उसका वास्तविक स्थान दिखा देगा. वह देखिए: वे भैया जो पाइप लगाकर गाड़ी, सड़क और नाली धो रहे हैं. इन्हें इल्म नहीं कि पाँच-सात साल बाद शौचालय का जल इन्हें पीना पड़ेगा."

तकनीकी के भंवर

माधुरी के पास एक अच्छी कम्पनी का स्मार्टफ़ोन था. स्क्रीन पर दो-एक चटकनों के बावजूद वे उसके काम से नाख़ुश नहीं थीं. लेकिन फिर नयी टेक्नोलॉजी आ गयी थी. नयापन अपनेआप में एक गुणवत्ता है और इसी कारण पुरानापन गुणहीनता. सो माधुरी ने निर्णय लिया है कि वे अब नया स्मार्टफ़ोन ले ही लेंगी.

स्मार्टफ़ोन जितना चलाये जा सकते हैं, उससे पहले डम्प किये जा रहे हैं. औसत व्यक्ति अठारह-बाइस महीनों में उन्हें छोड़कर दूसरा ले लेता है. स्मार्टफ़ोन 'पुराना' लगता है. या फिर वह नये सॉफ्टवेयरों के साथ अब 'कॉम्पैटिबल' नहीं रह गया. सो अब नये के साथ तारतम्य बिठाना हो, तो नया फ़ोन ही लेना होगा. आपको नयी तकनीकी चाहिए कि नहीं?

आम-तौर पर जब लोग ग्लोबल वॉर्मिंग की बात करते हैं तो फ़ोनों-लैपटॉपों-डेस्कटॉपों पर उतना ध्यान नहीं देते, जितना डीज़ल-पेट्रोल की गाड़ियों पर. लेकिन तेज़ी से कार्बन का पंजा कम्प्यूटर व आईटी-क्षेत्र के कारण बढ़ रहा है. आम सोच जबकि यह है कि कम्प्यूटरों के सही प्रयोग से हम न जाने कहाँ और कितने तरीकों से ऊर्जा बचा सकते हैं.

स्मार्टफ़ोनों की ऊर्जा-खपत उनके इस्तेमाल में उतनी नहीं है, जितनी उनके निर्माण में. आम तौर पर जब वस्तु से पर्यावरण का रिश्ता जोड़ते हैं, तो वे उसके निर्माण को न सोच पाते हैं और न सोचना चाहते हैं. उनके लिए स्मार्टफ़ोन का अर्थ है कॉल-मेसेज-ह्वाट्सऐप-फ़ेसबुक इत्यादि और इसमें भला कितनी ऊर्जा लग रही होगी. सत्य लेकिन वहाँ छिपा है, जहाँ इन स्मार्टफ़ोनों का उत्पादन शुरू होता है.

स्मार्टफ़ोनों में यिट्रियम-लैंदेनम-स्वर्ण जैसी तमाम धातुओं की आवश्यकता पड़ती है, जिनमें से कई कुछ ही देशों में पायी जाती हैं. स्मार्टफ़ोन के ढाँचे को बनाने में भी प्लास्टिक ख़र्च होता है और ध्यान रहे मात्र एक प्रतिशत स्मार्टफ़ोन रीसायकिल यानी पुनर्चक्रित होते हैं. बाक़ी सब? इसी धरती पर भारी धातुओं प्लास्टिक के साथ! कहाँ? ग़रीब देशों में!

ईवेस्ट का अपना स्याह वर्त्तमान है. अमीर देश तकनीकी भोगते हैं, ग़रीब भुक्त तकनीकी का कचरा साफ़ करते हैं. अमेरिका-फ्रांस-चीन-जर्मनी का इस्तेमाल किया एल्क्ट्रॉनिक कचरा अफ़्रीका और दक्षिण-दक्षिणपूर्व के देशों में डम्प कर दिया जाता है. मिट्टी उनकी ख़राब होती है, पानी भी. लोग उनके बीमार पड़ते हैं पुराने एलेक्ट्रॉनिक सामान की सफ़ाई-मरम्मत से. लेकिन दुनिया इसी तरह चलती है, चलायी जा रही है.

अब जब भी हर दो साल पर स्मार्टफ़ोन बदलने की तलब लगे, तो पुराने फ़ोन का भविष्य याद करिएगा. कहाँ जाएगा यह? भारत में ही अथवा बांग्लादेश, वियतनाम, घाना के किसी बच्चे के हाथ में तो नहीं, उसे बीमार करता हुआ?

तकनीकी किसी सिनेमावाले के कहने से न पुरानी होती है और न अनुपयोगी. आपको जिस नायिका की सुननी है, वह आपकी अपनी आवश्यकता है.

जो आवश्यक नहीं, उसकी ख़रीद नहीं. अन्यथा कोई बीमार होगा-- चाहे आदमी, अथवा परिन्दा या फिर मिट्टी-पानी.

ऐसी भी क्या दुश्मनी!

तो क्या संसार के सारे मच्छर मार दिये जाने चाहिए?

शेरों-बाघों-गैंडों की विलुप्ति की तरह शायद ही कोई मच्छरों के उन्मूलन पर आँसू बहाये. और अगर कोई बहा भी दे, तो लोग उसकी ओर पलटकर कटाक्ष करेंगे, "भैया, एकदम सन्त बनने से क्या होगा?" "अहिंसा व्यावहारिक हो, तो ही अच्छी लगती है." "बिलावजह का भावोछवास हानिकारक ही रहता आया है."

जिस तरह संसार के अधिकांश जीवाणु बुरे नहीं, जिस तरह दुनिया के अधिसंख्य साँप बुरे नहीं, उसी तरह पृथ्वी के सारे मच्छर बुरे नहीं. लेकिन म्हें सिखाया-पढ़ाया जाता है कि जहाँ बैक्टीरिया हों, मार डालो. जहाँ साँप दिखे, लाठी-गुम्मा चलाओ. इसी तरह मच्छर का प्रतिपक्ष कुछ भी क्यों न हो, मारना ही एकमात्र समाधान है. येन-केन-प्रकारेण संसार के समस्त मच्छरों का नाश हो!

संसार-भर में मच्छरों की लगभग 3500 प्रजातियाँ हैं. ज़्यादातर की माँएँ पानी (तालाब, फूलों के गमले, टायर में जमा पानी, नाली जैसे अनेकानेक स्थानों) में अपने अण्डे देती हैं, जहाँ से उनके लार्वे फूटते हैं. ये लार्वे शाकाहारी होते हैं. फिर ये प्यूपों में बदलते हैं और उसके बाद वयस्क मच्छरों में. इन वयस्कों में भी अधिसंख्य शाकाहारी हैं. पौधों-फूलों पर ये अपनी गुज़र-बसर करते हैं. ख़ून पीने वाली प्रजातियों में भी अधिकांश अन्य जीवों पर जीवित रहती हैं. मनुष्यों को काटने और उनके रक्त पर पलने वाले मच्छर इस तरह से बहुत गिने-चुने ही हैं.

मच्छरों के लार्वे जमा पानी की गन्दगी खाकर साफ़ करते हैं. इसके अलावा वे ढेरों पक्षियों-मछलियों-कछुओं का भोजन स्वयं बनते हैं. यही नहीं वयस्क मच्छर भी अनेक प्रजातियों के आहार के रूप में काम आते हैं. ढेरों ऐसी पौधा-

प्रजातियाँ हैं, जिनका परागण मच्छरों से होता है. और सबसे अधिक मच्छरों का महत्त्व को आर्कटिक टुंड्रा के इलाक़ों में बढ़ जाता है, जहाँ विशाल मच्छर-आबादी पर ढेरों पक्षियों की प्रजातियाँ जीवित रहती हैं.

इन सब बातों के बावजूद मच्छरों ने मानव-प्रजाति को भरपूर हानि पहुँचायी है और पहुँचा रहे हैं. लेकिन इन समस्याओं के बाद भी मच्छरों के मुक्ति 'अब एक भी मच्छर नहीं बचेगा' की मूर्खतापूर्ण उक्ति के साथ असम्भव है. जिन रसायनों का हम मच्छरों को मारने के लिए प्रयोग कर रहे हैं, उनमें से ढेरों हम पर व अन्य प्रजातियों को जो हानि पहुँचा रहे हैं, उनकी उपेक्षा कैसे की जा सकती है?

ऑफेंस इज़ नॉट द बेस्ट डिफेन्स, डिफेन्स इज़ द बेस्ट ऑफेंस! मच्छर से लड़ने की सबसे कारगर-असरदार और कम नुकसानदेह पद्धतियाँ डिफेंसिव ही हैं. मच्छर हमारी सामूहिक स्वच्छता की परीक्षा लेते हैं, उन्हें व्यक्तिगत स्वच्छता से कोई सरोकार नहीं. गुप्ता जी, शर्मा जी, मीर साहब और कुमार साहब में से किसी के घर भी रुका पानी गमले में होगा, तो डेंगी का मच्छर बिना भेदभाव सबको काटेगा और अस्पताल पहुँचाएगा. इसलिए मच्छर से लड़ना ;माई लाइफ़, माई रूल्ज़' के साथ हो न पाएगा, 'आवर लाइव्ज़, आवर रूल्ज़' पर मोहल्लों-गाँवों-नगरों-राज्यों-देशों को आना ही पड़ेगा.

मच्छर से रसायनों द्वारा लड़ने में सबसे बड़ा खतरा कोलैटरल डैमेज का है. आप जिसे मार रहे हैं, उसके अलावा कौन-कौन आपके प्रहार से मर रहा है-- यह महत्त्वपूर्ण है. और वह क्यों मारा जाए? उसने आपका कोई नुकसान नहीं किया. बल्कि उसे मारकर आप पर्यावरण के तमाम जीवन-चक्र और भंग कर रहे हैं. यह उस ब्रह्मास्त्र की तरह है, जिसे बार-बार धर्मशास्त्र चलाने से रोकते हैं, अन्यथा बड़े पैमाने पर विनाश होगा. आज लेकिन एन्टीबायटिकों-एन्टीसेप्टिकों-पेस्टीसाइडों-हर्बीसाइडों का अन्धाधुन्ध प्रयोग बिना सोचे-समझे जारी है.

विज्ञान लगा हुआ है. मच्छर-जन्य बीमारियों के लिए टीके बनाने में, मच्छर के लिए प्रजनन-रोधी ख़ास तकनीकी विकसित करने में. लेकिन अब तक हम जिस भी विधि से मच्छर मार रहे हैं, उससे कहीं और भी चोट लग रही है. कई बार गहरी, कई बार कभी न भर सकने वाली. हमें ऐसा ब्रह्मास्त्र चाहिए, जिससे सृष्टि का सहनाश न हो. शत्रुता जो नहीं निभाते, वे तो सन्त होते हैं. लेकिन शत्रुताएँ यथासम्भव व्यक्तिगत रखें तो बेहतर. जातिगत-नस्लगत-वंशगत-प्रजातिगत शत्रुताएँ अज्ञान से अन्धी होती हैं और ग़लत फैसले लिया करती हैं.

मुनाफाखोरी के विषाणु

बैक्टीरियाहीन जो होना चाहे, वह प्राणहीन होने के लिए तैयार रहे.

बात तबसे शुरू करता हूँ जब लोग संक्रमणों का कारण नहीं जानते थे. माइक्रोस्कोप उनके पास थे नहीं और इसलिए दृष्टि में स्थूलता-भर से वे जीवाणु-विषाणु देख नहीं पाये थे. सो तरह-तरह की कल्पनाएँ और मिथक प्रचलन में थे. भयपूर्ण प्रश्न-गर्तों को जब तर्कपूर्ण उत्तरों से नहीं पाटा जाता, तो वे कल्पनाओं से पूरे जाते हैं. यही हुआ.

लेकिन फिर मायक्रोस्कोप के साथ सूक्ष्मदृष्टि अस्तित्व में आयी. लोगों ने जाना कि बच्चे दो प्रकार की जनाना-मर्दाना ख़ास कोशिकाओं के मिलने से बनते और फिर पैदा होते हैं. उन्हें मालूम हुआ कि हैजा जीवाणु से होता है, प्लेग भी. चेचक का कारण एक विषाणु है, एड्स का भी. पूरा-का-पूरा एक अतिसूक्ष्म संसार है, जिससे हम अब तक अनभिज्ञ चले आ रहे थे.

फिर शुरू हुई खोज इन सूक्ष्म शत्रुओं से लड़ने के लिए हथियार बनाने की. पहला अस्त्र पेनिसिलिन था, जो एलेग्ज़ेंडर फ्लेमिंग को अनायास एक फफूँद में मिल गया था. फिर एक होड़ सी चल पड़ी. नयी-नयी एंटीबैक्टीरियल, नयी-नयी एंटीवायरल. एंटीबायटिक-अस्त्र-सूची लम्बी से और लम्बी होती चली गयी.

मगर जीने की इच्छा जितनी मनुष्य में है, उससे क्या कम जीवाणुओं में है? जीवन सबको बराबरी का अवसर देता है. सो उन्हें भी दिया गया. वे भी प्रतिरोध विकसित करते रहे और एक-से-एक महँगे-से महँगे एंटीबायटिक-रसायन भोथरे सिद्ध होते रहे. नतीजा आज यह है कि दुनिया सुपरबग के सामने खड़ी है. एक मज़बूत महामारी का झोंका आया नहीं कि करोड़ों जानें एक झटके में चली जाएँगी.

दूसरे प्रकार के रसायनों का प्रयोग तो एंटीबायटिक-युग के पहले से शुरू हो चुका था. ये जोसेफ़ लिस्टर ही थे, जिन्होंने अस्पतालों और उनमें काम करने वाले डॉक्टरों के बीच स्वच्छता का सिद्धान्त स्थापित किया था. अन्यथा उसके पहले सर्जरी का अर्थ संक्रमण के मुँह में जाना होता था. उस दिन से आज-तक न जाने कितने ही एंटीसेप्टिक रसायन हमारे बीच आ चुके हैं.

एंटीबायटिक-एंटीसेप्टिक के प्रयोग में महत्त्व जितना ज्ञान का है, उससे तनिक भी विवेक का कम नहीं है. दवा कहाँ देनी है, क्यों देनी है, कितने दिन देनी है और किस तरह से देनी है-- सभी बातें महत्त्वपूर्ण हैं. एंटीबायटिक-दुरुपयोग में लिए बीते दिनों जब एक प्रोफ़ेसर साहब से बात हुई तो उन्होंने कहा कि अनक्वॉलिफाइड इस्तेमाल होगा तो जीवाणु-विषाणु रेज़िस्टेंट होंगे ही. मैंने पूछ लिया कि आपके अनुसार कौन अधिक दुरुपयोग करता है: क्वालिफाइड साथी, अनक्वॉलिफाइड प्रैक्टिशनर या सामान्य जन. उनका उत्तर था कि तीनों को ही दोष दूँगा. अभी मेडिकल स्टोर चलिए: जो एंटीबायटिक चाहेंगे, आपको बिना पर्चे के लेकर दिखा दूँगा. तब तो सुपरबग को रहम का फ़रिश्ता कहिए, जिसने आज-तक हमारी जनसंख्या को ज़िंदा बख़्शा हुआ है.

प्रोफ़ेसर साहब का कहना है कि एंटीसेप्टिक-प्रयोग का तो और बुरा हाल है. जीवाणुओं के पीछे पूरा बाज़ार पड़ा है. एंटीबैक्टीरियल चड्ढी से लेकर टूथपेस्ट तक, जीवाणुमारक पेण्ट से लेकर फेसवॉश तक-- सभी बोर्ड के नम्बरों की तरह 99.9% का मारक आँकड़ा बेच रहे हैं. मम्मियाँ और पापा बच्चों को डेटॉल डालकर नहलाने से बाज़ नहीं आ रहे और मानव-गन्ध को ऐसा विरूप बनाकर सबके सामने प्रस्तुत किया जा रहा है, जैसे इंसान होने की अर्हता ख़ुशबूदार होकर की पायी जा सकती है.

उनका कहना है कि एंटीसेप्टिक का यह ऑब्सेशन और बैक्टीरिया का यह फ़ोबिया हमें तबाह कर रहा है और आगे और करेगा. तमाम रसायनों से लोग एक्सपोज़ हो रहे हैं, जिनसे एलर्जी-त्वचारोग-ऑटोइम्यून रोग-कैंसर की आशंका है. लोग जीवाणुओं को मारने की अन्धी दौड़ में अपने शरीर का जैविक पर्यावरण ही बिगाड़े डाल रहे हैं.

हमारे अंग जितने हमारे हैं, उतने ही इन जीवाणुओं के भी हैं. हम जो ज़िंदा हैं, इनकी बदौलत ज़िंदा हैं. ये नहीं रहेंगे, तो हम भी मरेंगे. इसलिए बाज़ारवाद की अतिशुद्धता के इस ढोंग के ख़िलाफ़ एक पूरी मुहिम चलायी जानी चाहिए. शेर तब तक हमारा शत्रु नहीं, जब तक वह नरभक्षी न हो जाए. इश्चेरिशिया कोलाई जीवाणु भी हमारी आँतों के जंगल में हमेशा से रहते आये हैं ; लेकिन वे 'नरभक्षी' विशेष परिस्थितियों में ही होते हैं.

बाज़ार जिस तरह हर शेर को मारना चाहता है, उसी तरह हर जीवाणु को भी. मुनाफ़ाख़ोरी का तिलिस्म उस दिन टूटेगा, जिस दिन कस्टमर ही नहीं बचेंगे.

मैली गंगा

"उत्तर भारत में विशेषकर बिहार में पित्ताशय का कैंसर बहुत मिलता है, जानते हो न?" मैं अपने एक वैज्ञानिक-मित्र से बात कर रहा हूँ, जो इस समय अमेरिका की एक प्रयोगशाला में कार्यरत हैं.

"उत्तर भारत में गंगा भी तो है." उसका जवाब है.

"मतलब?"

"क्या तुम जानते नहीं कि गंगा में कैसे-कैसे और किन-किन रसायनों का जमावड़ा हो रहा है? मानव व पशु-मल के माध्यम से आता एंटीबायटिक-रेज़िस्टेंस और फैक्ट्रियों द्वारा छोड़े जाते कैड्मियम-सीसा-आर्सेनिक जैसे भारी तत्त्व नित्य गंगा में घुल रहे हैं. जानते हो कि गंगा का पानी जिन इलाक़ों में जा रहा है और जो लोग इसके तट पर रह रहे हैं, उनमें कैंसर के मरीज़ लगातरा बढ़ रहे हैं?"

"और इससे नदी की पवित्र छवि धूमिल हो रही है, सो अलग!"

"नदी की शुद्धता को बचाना चाहिए आप-लोगों को, पवित्र छवि शुद्ध जल से निकली है. जब जल ही दूषित होता जाएगा और कैंसर व संक्रमण पैदा करने लगेगा, तो कितने दिन रहेंगे आप-लोग पवित्र छवि के साथ?" वे उत्तर देते हैं.

बेड़ियों में गंगा

"अविरल गंगा के बिना निर्मल गंगा को बचाया नहीं जा सकता बच्चो! जब तक नदी का प्रवाह अविरल नहीं होगा, निर्मलता की बात महज़ छलावा है. ऐसा अधूरा उद्यम जिससे हम सुरसरि के जीवन्त बहाव को कभी न पा सकेंगे. जानते हो गंगा की देह में भी एक लड़ाई चला करती है!" शरण्या-सुकान्त से मेरी बातचीत जारी है.

"नदी के भीतर लड़ाई? कैसी लड़ाई?" शरण्या का प्रश्न है.

"हाँ. नदी हम-जैसे मनुष्यों का मल-युक्त अपशिष्ट जब लेती है, तो उसमें असंख्य जीवाणु (बैक्टीरिया) मिल जाते हैं. ये जीवाणु गंगा में पनपते हैं, इन्हें कोलीफॉर्म कहा जाता है. इनकी संख्या इतनी महत्त्वपूर्ण है कि इसके द्वारा वैज्ञानिक गंगाजल का प्रदूषण नापते हैं. लेकिन फिर गंगा में अनेक ऐसे विषाणु (वायरस) भी पाये जाते हैं, जिन्हें कोलीफेज कहा गया है. ये विषाणु कोलीफॉर्म-जीवाणुओं के भीतर दाखिल होते हैं और उन्हें मार देते हैं. इस तरह से गंगा में यह विषाणु-जीवाणु-संघर्ष नित्य चला करता है. एक ऐसा युद्ध जिसमें एक ओर हमारी ही आँतों से त्यागे मल से आये शत्रु कोलीफॉर्म हैं, तो दूसरी ओर इन कोलीफॉर्म-

जीवाणुओं को मारने वाले मित्र कोलीफेज-विषाणु. ऐसे युद्ध में हमारी अपनी भूमिका महत्त्वपूर्ण हो जाती है. क्या हमें इन कोलीफेज-विषाणुओं की मदद नहीं करनी चाहिए?"

"बिलकुल करनी चाहिए. बताइए हम इनकी मदद कैसे कर सकते हैं?" सुकान्त पूछता है.

"इसके लिए हमें यह सुनिश्चित करना होगा कि गंगा में गिरने वाला समस्त सीवेज ट्रीटमेंट के बाद ही दाखिल हो. अन्यथा नदी संक्रमित-प्रदूषित ही रहेगी और ढेरों बीमारियाँ अपने पानी को इस्तेमाल करने वालों को देती रहेगी. लेकिन इससे भी अधिक नुकसान हमने गंगा के पानी को बाँध कर, इसपर बाँधों का निर्माण करके किया है."

"कैसे?"

"बँधी हुई नदी अविरल नहीं रह सकती और जो नदी अविरल नहीं है, उसे हम लाख प्रयासों के बाद भी निर्मल नहीं कर सकेंगे. गंगा पर टिहरी-जैसे बाँध हमने बनाये. जितना इससे हमें लाभ हुआ, उससे कहीं अधिक नदी के पर्यावरण को हानि हुई. उसमें अण्डे देने वाली मछलियों की प्रजातियाँ लुप्त हुईं या होने के कगार पर पहुँच गयीं. गंगा की तलहटी पर पाये जाने वाले कोलीफेज-विषाणुओं की आबादी पर प्रभाव पड़ा और उनका कोलीफॉर्म-जीवाणुओं के साथ जो स्थापित सन्तुलन था, वह डगमगाने लगा. गंगा का स्वास्थ्य बिगड़ने लगा, हमारी सांस्कृतिक-सामाजिक महाधमनी महारोगिणी हो गयी."

"इनमें से ढेरों बातें तो हमें पता ही नहीं थीं."सुकान्त कहता है.

"गंगा केवल बहता हुआ पानी नहीं है, जिसे हम निचोड़ें और अपनी भौतिक इच्छाएँ पूरी कर लें. गंगा मछलियों-कछुओं-घोंघों-शैवालों-जीवाणुओं-विषाणुओं समेत उन तमाम जीवनों का सामूहिक नाम है, जिनके कारण समूचा उत्तर व पूर्वी भारत उर्वर बना हुआ है. मुरझायी-मरती इस नदी का सबसे बड़ा उपचार इसका अपना जल है ; गंगा में अपने घाव पूरने की, अपने को रोगहीन करने की विलक्षण शक्ति है. बस हम इसके इन प्रयासों में बाधा न उत्पन्न करें."

"लेकिन अगर बाँध न बनाये गये तो बिजली कहाँ से पैदा होगी? और सिंचाई के लिए खेतों में पानी कहाँ से आएगा? पीने के लिए पानी कैसे मिलेगा?" सुकान्त की शंका है.

"समय आ गया है कि सरकारें सौरऊर्जा पर धीमे-धीमे काम करने की बजाय युद्धस्तर पर कार्य करें. गंगा व अन्य नदियाँ हमारी बिजली की माँग नहीं पूरी कर सकतीं, उनसे यह कार्य लेना उन्हें सुखा डालना है. 940 के लगभग बाँधों और बैराजों की बेड़ियों में जकड़ी गंगा को केवल सीवरों की सफ़ाई से शुद्ध करने का संकल्प अधूरा और अपरिपक्व है."

"गंगा जिसे शिव ने भी अपनी जटा में नहीं बाँधा, उसे हमने बाँध लिया." शरण्या कहीं खो जाती है.

"यही गंगा-बन्धन और गंगा-क्रन्दन पूरी दुनिया में सुपरबगों को फैलाकर हमें रोग और कुख्याति, दोनों दे रहा है. भारत गंगा का देश रहा है: आज वही गंगा पूरी दुनिया में अपने अशुद्ध और संक्रमित जल के कारण एंटीबायटिक-रेज़िस्टेंस का बड़ा ख़तरा बनी हुई है."

डेंगी की खेती

पृथ्वी को गर्म करते रहेंगे, तो डेंगी से कैसे लड़ेंगे!

डेंगी एक रोग है, जो एक ख़ास विषाणु से फैलता है. एडीज़ प्रजाति के मच्छरों के काटने से यह विषाणु एक व्यक्ति से दूसरे में स्थानान्तरित होता है. अब तक विषुवत वृत्त के आसपास के देशों में फैला यह रोग अब धीरे-धीरे अपने पैर नये इलाक़ों में पसारने लगा है. शहरों में और महानगरों में बीते वर्षों में डेंगी-मरीज़ों की संख्या में बेतहाशा वृद्धि हुई है. यह रोग जिसे हड्डी-तोड़-ज्वर भी कहा जाता है, अपने ख़ास लक्षणों (बुख़ार व बदन-दर्द) और बाहरी-भीतरी रक्तस्राव के कारण जाना जाता है. डेंगी के गम्भीरतम रूप में रोगी की खून बहने से मृत्यु तक हो जाती है.

डेंगी-विषाणु को पनपने के लिए सबसे अच्छा मौसम गर्म और उमस भरा होता है. शहरों-महानगरों में पानी के कृत्रिम जमावड़े इस विषाणु के वाहक मच्छरों को पनपने के लिए उचित स्थान मुहैया कराते हैं. लम्बी होती गर्मियों ने एडीज़ मच्छर व डेंगी-विषाणु के लिए कई सुविधाएँ उपलब्ध करा दी हैं, जिससे अब यह बीमारी फैलाने वाला जोड़ा नये-नये स्थानों में मरीज़ पैदा कर रहा है.

एडीज़ एजिप्टी एवं एडीज़ एल्बोपिक्टस नामक मच्छर बढ़ती चिपचिपी शहरी
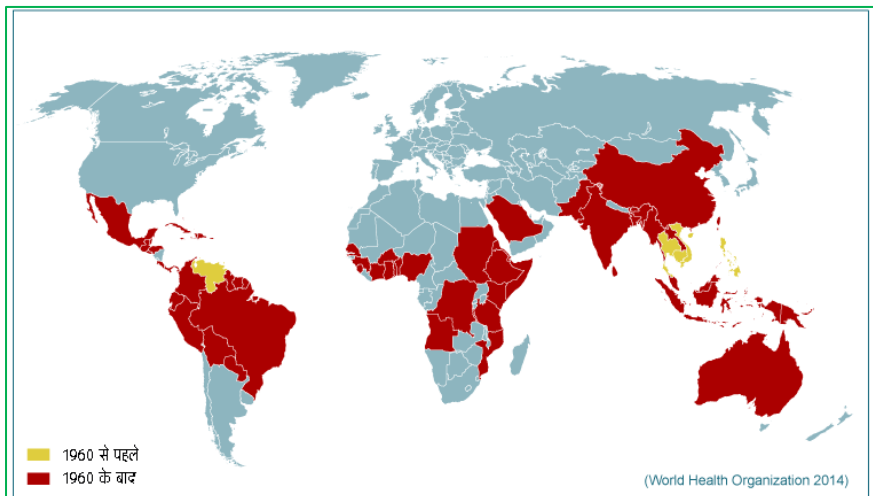
गर्मी में आसानी ने पनप रहे हैं. गर्म मौसम के कारण डेंगी-विषाणु का इन्क्यूबेशन पीरियड भी घट गया है, यानी यह विषाणु अब पहले की तुलना में संक्रमण के लिए जल्दी तैयार हो जा रहा है. नतीजन डेंगी के मरीज़ों की संख्या में बढ़ोत्तरी देखने को मिल रही है.

डेंगी के मच्छर दिन में काटते हैं, रात में नहीं. ओडोमॉस और हिट इनका सही उपचार नहीं. सरकारें और उनके नगर-निगम इस रोग से लड़ने के लिए जल-भराव से लड़ रहे हैं. लेकिन सबसे दूरगामी सोच पर किसी का जल्दी ध्यान नहीं जाता. डेंगी से लड़ने का सबसे कारगर और व्यापक तरीक़ा है, पृथ्वी को गर्म होने से बचाना. पृथ्वी का औसत तापमान दो डिग्री बढ़ा नहीं, कि करोड़ों नागरिक इस विषाणु की जद में होंगे और लाखों नये डेंगी-मरीज़ पैदा हो जाएँगे.

डीज़ल-पेट्रोल की अन्धाधुन्ध खपत घटानी होगी, सरकारों को पब्लिक ट्रांसपोर्ट सस्ता और बढ़िया करना ही होगा. फ़ैक्ट्री-उत्पादों पर निर्भरता कम करनी होगी. सबसे बड़ा ग्लोबल वॉर्मिंग का कारण गाड़ियों और फैक्ट्रियों द्वारा ग्रीनहाउस गैसों का बेलगाम उत्सर्जन है. समस्या हमने पैदा की है, समाधान भी हम हैं. शहर बनाने में अन्धे हम हुए, पृथ्वी को हमने तपाया है.

टशन के साथ एसयूवी लेकर शहर में घूमने वाला और फैक्ट्री से मुनाफ़ा बटोरता व्यक्ति स्वयं नहीं जानता कि वह डेंगी के विषाणु और मच्छर के स्वागत की रोज़ तैयारी करता है. जब घर में किसी को तेज़ बुख़ार के साथ प्लेटलेट की कमी मिलती है, तो लोग ईश्वर से प्रार्थना करते हैं और सरकारों को कोसते हैं.

नॉन-स्टिक पर न टिकें

विद्या भाभी के यहाँ भोजन करते समय वार्त्तालाप नॉन-स्टॉकिंग पैनों पर चिपक गया था.

"हम केवल वह नहीं खा रहे भाभी, जो दिखता है या जिसे हम खरीदते हैं. हम वह भी खा रहे हैं, जो उसे बनाने में, प्रिज़र्व करने में और बेचने में इस्तेमाल होता है. हम सोचते हैं कि हम केवल कोक की बोतल पीते हैं, बोतल में मौजूद कोक किस तरह बनाया गया और किस बोतल में हम तक पहुँचा --- यह न कम्पनी विस्तार से बताती है, न उसका विज्ञापन करने वाला अभिनेता. वे प्यास की बात करेंगे, स्वैग की बात करेंगे, दुनिया-भर की टशन पर चर्चा करेंगे, बस जो पिया जा रहा है, उसी पर बात नहीं करेंगे. वे कर ही नहीं सकते ईमानदारी से!"

"तो क्या नॉनस्टिक-कोटिंग वाले पैनों पर भोजन नहीं बनाना चाहिए?" वे पूछ रही हैं.

"ढेरों रसायन जिनसे हमारे बर्तन व भोजन युक्त हैं, उन पर शोध अलग से नहीं किया जा रहा भाभी. उपभोक्ता ही शोध का सब्जेक्ट है. इस्तेमाल करते रहिए, सौ

सालों में कुछ पुख़्ता हासिल होगा. जितना पुराना इस्तेमाल, उतने ठोस नतीजे सामने आएँगे. यही हाल टेफ्लॉनयुक्त नॉन-स्टॉकिंग पैन का है."

"टेफ्लॉन पर कुछ चर्चा हो जाए." विधु भाई का मत है.

"नॉनस्टिकिंग पैन पर पॉली परफ़्लोरोअल्काइल रसायन (PFAS) लगाये जाते हैं. दुनिया-भर के वैज्ञानिक इन्हें सन्देह की दृष्टि से देखते हैं. इन रसायनों पर बहुत आँकड़े नहीं हैं हमारे पास. जितना ज्ञान है, थोड़ा है. इन्हीं में से एक है परफ़्लोरोऑक्टेनॉइक एसिड (PFOA) जिसका सम्बन्ध कई कैंसरों, यकृत, आँतों, थायरॉइड व गुर्दों की बीमारियों से पाया गया है. पॉली परफ़्लोरो-अल्काइल रसायन केवल नॉनस्टिक बर्तनों में ही नहीं हैं, ये हवा, पानी और भोजन से भी हमारे भीतर प्रवेश कर रहे हैं."

"तो फिर इसके ख़िलाफ़ खुलकर आवाज़ क्यों नहीं उठायी जाती?"

"आप बात को समझिए. खुलकर आवाज़ के लिए स्पष्ट और विस्तृत नतीजे चाहिए. इतना डेटा जनरेट होने में, इतना शोध होने में समय निकल जाता है. कोई शोध आता है, जो किसी रसायन का विरोध करता है तो उसे काटने के लिए दूसरा शोध सामने रख दिया जाता है. यह व्यापारी-लॉबी भी कर सकती है और सच्चा विज्ञान भी. ऐसे में जनता के लिए कोई स्पष्ट निर्देश कैसे जारी करे?"

"तो फिर रास्ता कैसे निकलेगा? सच अन्ततः कब सामने आएगा?" विद्या भाभी बेचैन हैं.

"सच खुलने में दशकों लग सकते हैं. सिगरेट से कैंसर होता है-- यह खुलने में पूरी बीसवीं शताब्दी बीत गयी और सिगरेट का बिकना आज भी जारी है. सरकारों ने सिगरेट-फैक्ट्रियों पर ताले नहीं लगवाये. इसलिए समझिए कि भेड़चाल में और दिखावे में जीवन जीने से कोई लाभ नहीं. देखा-देखी विज्ञापनों के आधार पर नॉनस्टिक बर्तन न खरीदिए. जो हैं, उनका भी इस्तेमाल घटाइए. जानती हैं न कि भोजन में परम्परा सबसे स्वास्थ्यवर्धक होती है?"

"सही कह रहे हो. बुद्धि की खुराक की चाहे परम्पराएँ न हों, मुँह की खुराक तो यथासम्भव पारम्परिक ही रहे --- इसी में भलाई है." विधु भाई का निष्कर्ष है.

वृक्षों का विलाप

नैडीन अंगर वायुमण्डलीय रसायनविद् हैं: जब उन्होंने कहा कि पृथ्वी बचाने के लिए पेड़ मत लगाइए, तो उन्हें (उनके अनुसार) जान से मारने की भी धमकियाँ मिलीं.

लोग सरलीकरण में जीते हैं, यह स्वाभाविक है. उनके अनुसार पेड़ लगाने से पृथ्वी को ग्रीनहाउस-गैसों से बचाया जा सकता है. जितना वृक्षारोपण होगा, उतना वे पृथ्वी के तापमान को उठने से रखेंगे. नतीजन वृक्षीय हरियाली ही प्रदूषण का सबसे माकूल इलाज है.

इस लेख में यह नहीं कहा जा रहा है कि प्रदूषण से लड़ने के लिए पेड़ मत लगाइए. बिलकुल लगाइए. पेड़ों को बचाइए और उनका भरसक रोपण करिए. लेकिन विज्ञान की सोच हमें किसी भी विचार की अन्धभक्ति के आरपार देखने और सोचने को कहती है. सो वृक्षारोपण के स्थापित बड़े लाभ से इतर कुछ बातें हैं, जिनपर चर्चा ज़रूरी हो जाती है.

यह सच है कि वैज्ञानिक अंगर का उपर्युक्त कथन अतिशयोक्ति लिये है: लोग पृथ्वी को बचाने के लिए पेड़ नहीं न लगाएँ, तो क्या करें? तमाम वैज्ञानिकों ने भी अंगर के इस कथन और शोध की आलोचना की है क्योंकि इससे ग़लत सन्देश जाता है.

पेड़ हवा से कार्बनडायऑक्साइड लेते हैं और उसकी जल के साथ रासायनिक अभिक्रिया करते हैं, जिससे ग्लूकोज़ व ऑक्सीजन बनते हैं. इस अभिक्रिया को प्रकाश-संश्लेषण यानी फोटोसिंथेसिस कहा जाता है. इस अभिक्रिया के द्वारा पेड़ हवा में मौजूद गैसीय कार्बन को फ़िक्स कर देते हैं. कार्बनडायऑक्साइड के रूप में पृथ्वी को गर्म करने वाला कार्बन पेड़ों के शरीर में भाण्डारित हो जाता है.

लेकिन फिर कुछ शोध यह भी कहते हैं कि पेड़ स्वयं भी मीथेन-नाइट्रस ऑक्साइड जैसी ग्रीनहाउस गैसें छोड़ते हैं. गहरे हरे रंग की पत्तियों के कारण वे सूर्य का प्रकाश सोख कर पृथ्वी को ठण्डा करने की बजाय गर्म करते हैं. ऐसा बहुधा उन पहाड़ी इलाक़ों में देखा जाता है, जहाँ बर्फ़ से ढँकी चोटियाँ सूर्य के प्रकाश को परावर्तित कर देती हैं और इस तरह से पृथ्वी की सतह को ठण्डा

रखती हैं. इस प्रभाव को अल्बीडो प्रभाव कहा जाता है. अब जिन पहाड़ियों पर बर्फ़ की जगह पेड़ होते हैं, वहाँ सफ़ेदी के कारण प्रकाश का परावर्तन नहीं होता, उसे गहरे हरे रंग द्वारा सोख लिया जाता है.

कहने का अर्थ यह है वृक्षारोपण पर्यावरण के रक्षण के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है, किन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण नहीं. ग्रीनहाउस गैसों के उत्सर्जन का सबसे प्रमुख कारण डीज़ल-पेट्रोल-जैसे ईंधन हैं जिनसे संसार-भर के वाहन और फैक्ट्रियाँ चल रही हैं. जंगलों की कटान उससे बहुत नीचे, किन्तु दूसरे स्थान पर है.

फॉसिल-फ़्यूलों का विकल्प अगर जल्द सामने न आया, तो पूरी दुनिया को ये श्मशान बना डालेंगे. ऐसे में वृक्षारोपण भी अकेले प्रकृति की रक्षा नहीं कर पाएगा. जिनकी इच्छा हो, वे सुख्यात विज्ञान-जर्नल नेचर का यह लेख पढ़ सकते हैं: https://www.nature.com/articles/d41586-019-00122-z

समरथ को नहीं दोस गुसाईं

शीत-ऋतु बीती नहीं, पर भालू जाग गया है. अब जब वह भोजन की तलाश में मनुष्यों की आबादी की ओर बढ़ता है, तो लोग शोर मचाते हैं.

पृथ्वी ग्लोबल वॉर्मिंग से गर्म की जा रही है. पेट्रोलियम-उत्पाद व अन्य रसायन इसके लिए उत्तरदायी हैं. पर्यावरण की चिन्ता न उद्योगपति को है, न अधिसंख्य लोगों को. सब मुनाफ़े और मज़े को ध्येय माने चल रहे हैं: इस उम्मीद से कि यह रंगीन तिलिस्म कभी नहीं टूटेगा.

भालुओं से हमारा सांस्कृतिक नाता पुराना है. हमारी सबसे बड़ी दो प्राचीन कथाओं रामायण व महाभारत में ऋक्षराज जाम्बवान् उपस्थित हैं. वे जिनसे श्रीराम और हनुमान् जैसे महानायक भी मन्त्रणा करके उचित क़दम उठाते हैं. वे मणि-कलंक से जूझते श्रीकृष्ण से युद्ध करते हैं और हारने पर अपनी पुत्री जामवन्ती का उनसे विवाह कर देते हैं.

इन कथा-माहात्म्यों के बावजूद भालुओं को अधिसंख्य आलसी, मौजी, मस्तमौला, ढीली-ढाली चालढाल वाले शहदखोर जीव के रूप में समझते हैं. बीते कुछ वर्षों तक मदारियों के साथ बन्दरों की ही तरह भालुओं द्वारा लोगों का मनोरंजन भी आम प्रचलन में था. लेकिन बढ़ती सरकारी सख़्ती के कारण काफ़ी हद तक इन हरकतों में कमी आयी है.

भारत में भालुओं की तीन प्रजातियाँ देखने को मिलती हैं: छोटा काला स्लॉथ-भालू, बड़ा काला हिमालयी भालू जिसकी छाती पर एक वी-चिह्न होता है और भूरा हिमालयी भालू. जंगलों की अन्धाधुन्ध कटाई और बढ़ती गर्मी ने इन बेचारे जीवों के लिए भी जीवन-संकट पैदा कर दिया है.

भालू को जाड़ा चाहिए, ताकि वह सो सके. हमने धरती तपा रखी है और इस कारण जाड़े छोटे होते जा रहे हैं. नतीजन भालुओं को शीत-निद्रा (हायबरनेशन) में दिक़्क़त आ रही है. वे कम सोकर जल्दी जाग रहे हैं अथवा सो ही नहीं पा रहे. जागने पर उन्हें भोजन चाहिए, जिसके लिए वे मानव-बस्तियों पर हमला बोल रहे हैं. बीते वर्षों में चमोली, जोशीमठ, पौड़ी, टिहरी के क्षेत्रों में भालुओं का मानव-सम्पर्क बढ़ने से समस्या हो रही है.

ऐसा नहीं है कि बदलती जलवायु के कारण भालुओं को परेशानी केवल भारत में ही हो रही है. रूस में ध्रुवीय भालुओं ने आकर्टिक गाँवों की ओर बढ़ना आरम्भ कर दिया है और ग्रिज़्ली भालुओं ने कनाडियाई बस्तियों की ओर. इन बेचारे जानवरों को भी जीने के लिए सही भोजन और उचित तापमान चाहिए, जिसे हमने इनसे जबरन छीन लिया है.

भालू मानव पर हमला करेगा, मानव उसे मार कर अपने को विजेता सिद्ध कर देगा. वह यह भी कहेगा कि मैंने यह आत्मरक्षा में किया. यह भालू मेरे घर में घुस आया था. लेकिन मानव अपनी ज़रूरतों पर काबू करना कभी नहीं सीखेगा और न इस विषय में कभी सोचना ही चाहेगा. मानव को अपने विलास में तनिक कमी भी बर्दाश्त नहीं: जीव-जन्तुओं पर प्रतिक्रियात्मक हिंसा को वह आत्मरक्षा का झूठा नाम देगा.

समरथ को नहिं दोस गुसाईं.
रवि पावक सुरसरि की नाईं.
(तुलसी)

मनुष्य की रवि तक पहुँच नहीं है, यह रवि का सौभाग्य है. पावक उसके नियन्त्रण में बहुधा रहती है और वह उससे खेल रहा है. जब चाहता है -जिसे चाहता है, उसकी भूख के हवाले कर देता है. सुरसरि फैक्ट्रियों के रासायनिक कचरे और एंटीबायटिक-प्रतिरोध लिये जीवाणुओं से भरे मानव-मल से बजबजा रही है.

समर्थ सर्वाधिक मनुष्य है, इसलिए वह सर्वथा दोषमुक्त है!

पर्यावरण का हिसाब

जब बड़े विलासिता के प्रति तटस्थ रहेंगे, तो बच्चों को सड़कों पर पर्यावरण बचाने उतरना ही पड़ेगा.

विकसित देश केवल इसलिए विकसित नहीं कि वे हमसे अधिक भोग करते हुए कार्बन डायऑक्साइड का वायुमण्डल में उत्सर्जन करते चले आये हैं. बल्कि इसलिए भी वे अग्रणी हैं क्योंकि वे उन मुद्दों पर पुरज़ोर चर्चा में लगे हैं, जो हमारे यहाँ अभी अधिसंख्य की समझ से दूर हैं. वहाँ नदियाँ बातचीत का विषय बनती हैं, कीड़े-मकोड़े भी. उन्हें अपने पहाड़ों, समुद्रों, जंगलों और जानवरों को हर हाल में बचाना है. वे समझ चुके हैं कि स्वयं को बचाने का रास्ता सबकी रक्षा से ही खुलता है.

यूरोप में स्कूलों में पर्यावरण पर बात होती है, स्कूल से निकल कर सड़कों पर भी. बड़े उपहास कर रहे हैं, तो करते रहें. उन्हें समस्या नहीं दिखती, न दिखे. उन्हें जीवन का जितना अंश प्राप्त है, उसे लेकर वे बेफ़िक्र रहा करें. बच्चों को लेकिन अपने असुरक्षित भविष्य की चिन्ता है. वे बड़ों-जैसे सुविधाभोगी-हेडोनिस्ट अब आगे नहीं रह पा रहे.

भारत भी आज नहीं तो कल, इसी राह पर चलेगा. कुछ हद तक चल भी रहा

है. यह मॉल-संस्कृति बहुत समय ढोयी नहीं जा सकती. बिजली-पानी-ईंधन की खपत की एक सीमा है. यह भोग-विलास अनन्तकालीन रहने वाला नहीं. लेकिन चिन्ता यह है कि भारतीय बच्चे अपने यूरोपीय साथियों की जागरूकता से जुड़ने में कहीं बहुत देर न कर दें.

पर्यावरण बहुत नाज़ुक और क्षीण दौर से गुज़र रहा है. बाज़ारवाद चरम पर है, सामान सजाये वह ग्राहकों के इंतज़ार में है. शिक्षा दोयम होती जा रही है, नौकरियों अनुपात में घट रही हैं. हवा-पानी-मिट्टी को उद्योगपति ने ऐसा विषैला बनाया है कि उन्हें उबरने में दशकों-सदियों का समय लग जाएगा. अब जवान होते टीन-एज बच्चे असन्तोष से ग्रेटा थन्बर्ग की राह पर न चलें, तो कहाँ जाएँ?

विलास जब तक पैसे से मिलता रहता है, व्यक्ति को पर्यावरण नहीं दिखता. जिस दिन जेबें खाली होती हैं, व्यक्ति को हवा की डीज़ली गन्ध और पानी का काला रंग नज़र आने लगता है. उस दिन वह आपसे विकास का हिसाब माँगने सड़क पर उतरता है.

डॉक्टर प्रकृति

वह अवसादग्रस्त था. डूब रहा था, कि उसे चिड़िया दिख गयी.

पक्षी जीवन के साधारण प्रस्तोता नहीं. वे उड़ते हैं, पृथ्वी से जुड़े रहकर भी उठा करते हैं. मछलियाँ वहाँ रहती हैं, जहाँ हम नहीं रहते. हम जलचर नहीं, जलमय सोचना हमारा स्वभाव नहीं. लेकिन पक्षी धरती पर रहते हैं या उनसे ऊपर को उठे पेड़ों पर. वे अण्डे ज़रूर देते हैं, लेकिन ममता हम-सी निभाते हैं. हम उनकी उड़ान को देखकर स्वातन्त्र्य-भाव का दृष्टान्त पाते हैं. प्रेम और क्रान्ति, दोनों मूल्यों को चाहने वालों के लिए परिन्दों का स्थान इसीलिए बहुत ऊँचा है.

विज्ञापनों को दिखाकर बाज़ार हमें घेर रहा है. वह चाहता है कि हम खरीदें. खरीदते रहें. खरीद-खरीद कर मर जाएँ. कुछ ऐसा भी है, जो हमें चाहिए पर वह बिकता नहीं. बाज़ार उसे ला नहीं सकता. उसके पास पाँच इन्द्रियों का सुख है, छठा मन-सुख उसके पास है ही नहीं. ऐसे में मन के प्यासे कहाँ जाएँ! मनसुखा उन्हें संसार के किस कोने में मिलेगा भला!

संसार के जितने पक्षी हैं, वे मनसुखा हैं. उन्हें उड़ते देखिए, चुगते देखिए. किस तरह से पंजों-पंखों का तालमेल बिठा कर डाल छोड़ते हैं और किस तरह लौटते हैं. किस तरह एक-दूसरे को पुकारते हैं, किस तरह दिन-रात भोजन ढूँढ़ते और शत्रुओं से बचते गुज़र-बसर करते हैं. चिड़ियों को जितना देखेंगे, उतना अवसाद में उम्मीद पाएँगे. उड़ता-चहकता पक्षी कुदरत का अपना एंटीडिप्रेसेंट है.

लोग चिड़ियों की प्रजातियाँ नहीं पहचानते, स्मार्टफ़ोनों की प्रजातियाँ पहचानते हैं. स्मार्टफ़ोनों के लिए विज्ञापन लगाये जाते हैं, अभिनेता-अभिनेत्रियाँ उन्हें प्रदर्शन-पट्टों से लोगों को खरीदने के लिए उकसाते हैं. कुदरत बाज़ार की तरह नहीं है. वह लाउड नहीं हो सकती, उसे हमसे मुनाफ़ा नहीं वसूलना. उसी स्मार्टफ़ोन-विज्ञापनपट्ट पर एक धूसर धनेश पंख फड़फड़ाता बैठता है और धीरे से पास के बबूलमय जंगल की ओर उड़ जाता है.

डिप्रेशन के मुफ़्त इलाज से जुड़िए. दरख्तों पर बैठे परिन्दे देखने के लिए न कोई स्कीम है, न सेल. निःशुल्क स्वस्थ होइए.

मॉल या मधुमक्खियाँ

बवेरिया से सीखना होगा भारत को.

बवेरिया जर्मनी का एक राज्य है, जो अपने रूढ़िवादी विचारों के लिए भी जाना जाता रहा है. लेकिन हाल ही में जिस घटना के कारण यह राज्य सुर्ख़ियों में आया, वह एकदम क्रान्तिकारी और पथप्रदर्शी था. बवेरियाई नागरिकों ने जैव-विविधता के लिए एक रेफरेंडम को समर्थन दिया. राज्य सरकार से कहा गया है कि प्रकृति-संरक्षण के लिए उचित क़दम उठाते हुए वह क़ानूनों में बदलाव करे. औपचारिकताएँ बहुत हो चुकीं, अब ज़मीन पर ठोस काम करने का समय है.

बवेरिया में महिलाएँ पोस्टर लेकर सड़कों पर हैं: 'मधुमक्खियों को बचाओ'. मधुमक्खियों और अन्य कीड़ों को मारकर मिलने वाला जीडीपी किसी काम नहीं आने वाला. जीडीपी से केवल आर्थिक विकास की कहानी सुधरती है, मनुष्य केवल अर्थ नहीं है. अर्थयुक्त मनुष्य जो आत्महत्या करने जा रहा है, उसे जीडीपी बचाने नहीं आएगा.

फिर जीडीपी उठाने में जिस तरह से हवा-पानी-मिट्टी की ऐसी-तैसी की गयी है, उसका क्या? इस तरह का लघुकालीन विकास क्या विकास है? नदियों-पहाड़ों-जंगलों को लूटकर चमकाये गये शहर और उन शहरों में जगमगाते मॉल

कितने दिन रोशन रहेंगे? समय आ गया है कि लोग दूर तक सोचना शुरू करें और अपनी विलासिता से बाहर निकलें. 'माय लाइफ़, माय रूल्स' एक सीमा तक ठीक है: उसके बाद यह स्वार्थपरक भोग का मन्त्रोच्चार बन जाता है.

बवेरिया के नेताओं से भी वहाँ की जनता को दबाने की कोशिश की. खेती-उद्योग-विकास की झूठी-मीठी बातों से लोगों को भरमाना चाहा. लेकिन लोग जब पढ़े-लिखे होते हैं, तो वे कुदरत को हर विकास से ऊपर रखना जान जाते हैं. रोटी खानी ज़रूरी है, घर में रहना ज़रूरी है. लेकिन हवा और पानी में ज़हर घोलकर रोटियाँ और घर बाँटे-बेचे जा सकते.

जनता को अपने भीतर सोच में बदलाव की आवश्यकता है. कौन सा सामान खरीदकर घर लाया जा रहा है, क्या खाया-पहना-इस्तेमाल किया जा रहा है --- इन सभी मामलों में पर्यावरणीय क़ीमत कितनी ख़र्च हुई है. हमें भारत के राज्यों में ऐसी ही जागरूकता की आवश्यकता है. सरकार लोगों से बनती है, वह लोगों की इच्छाओं को नज़रअंदाज़ नहीं कर सकती. लोग पर्यावरण के लिए सड़कों पर उतरेंगे, तो सरकारें आवश्यक कानूनी बदलाव करेंगी.

लोगों को मधुमक्खी और मॉल में सही चुनाव करना सीखना होगा.

बाँझपन की हवाएं

एंडोक्राइनोलॉजिस्ट-मित्र से बढ़ते प्रदूषण पर किसी ने सवाल पूछा था. "कौन सी जीव-प्रजाति वायु-प्रदूषण के कारण घट रही है आपके अनुसार?"

"शुक्राणु." उनका उत्तर था.

लोग एक पल को समझ नहीं पाये थे. ठिठक-से गये थे. शेर-बाघ-भालू-चील-उल्लू-कबूतर की जगह समस्या उन्हें अपने भीतर महसूस होने लगी थी. हवा में घुलता ज़हर. ज़हर से प्रभावित होता मानव-प्रजनन.

शुक्राणु वृषण में बनते हैं. इनके निर्माण में भूमिका निभाता है हमारा अन्तः-स्रावी तन्त्र. हॉर्मोन का वह संसार जिसके कारण शुक्राणुओं का ठीक से निर्माण होता है. उनका आकार-आकृति, उनकी चाल सब-कुछ तय किया जाता है.

संसार-भर के पुरुषों में सन्तान पैदा करने की क्षमता घट रही है. पिछले चालीस वर्षों में शुक्राणुओं की यह आबादी औसतन आधी रह गयी है. दुनिया में लगभग 15% युगल निःसन्तान हैं, जिनमें आधों में यह समस्या पुरुषों के कारण है. वैज्ञानिक इस बाबत कई रसायनों को ज़िम्मेदार पा रहे हैं और नित्य नये शोधों ने बात को पुष्ट-अपुष्ट कर रहे हैं. इनमें से एक महत्त्वपूर्ण प्रदूषण पार्टिकुलेट मैटर (पीएम) यानी नन्हें कणों के कारण है.

पार्टिकुलेट मैटर के अन्तर्गत ठोस कण एवं तरल बूँदें दोनों आते हैं. ढाई मायक्रोमीटर (मायक्रॉन) व्यास के पीएम-कण इतने छोटे होते हैं कि इंसान का एक बाल भी उनसे तीस गुना बड़ा होता है. ये अतिसूक्ष्म कण शरीर में साँस के साथ आसानी से दाखिल होते हैं और वहाँ से फिर अनेक अंगों में. इसके बाद में तरह-तरह से मानव-अन्तःस्रावी तन्त्र को बीमार करना शुरू करते हैं.

इन कणों व अनेक अन्य रसायनों के कारण शुक्राणुओं के आकार-आकृति में बदलाव होते हैं और उनकी गति भी तीव्र नहीं रह जाती. नतीजन यौन-क्रिया के बाद व्यक्ति के शुक्राणु अण्डाणु का निषेचन नहीं कर पाते और पिता बनने में समस्या होती है.

जिस हवा में मनुष्य साँस ले रहे हैं, वह उन्हें निःसन्तान कर रही है. ढेरों बातें रोज़ खुल रही हैं, ढेरों रहस्य रोज़ सामने आ रहे हैं.

कचरे के प्रेत

प्लास्टिक-थर्माकोल-रबर जैसे कूड़ों को जलाना स्वयं ज़हर खाकर दूसरों को ज़हर खिलाने जैसा काम है. नियम-क़ानून को ताक पर रख कर शहरों-गाँवों में यह बदस्तूर जारी है.

हम प्लास्टिक-प्रदूषण से पहले हे ही जूझ रहे हैं. जितना प्लास्टिक पैदा किया जा रहा है, वह हमें ही बीमार कर रहा है. वह मिट्टी में मिल रहा है, पानी में भी. वह हमारी खाद्य-शृंखला में शामिल होकर हमें रोगी बना रहा है. लेकिन फिर जब यही प्लास्टिकीय कूड़ा जलाया जाता है तो इसकी मार और अधिक व्यापक एवं गहरी हो जाती है.

मिट्टी की स्थानीयता पानी से अधिक है, पानी की हवा से अधिक. ऐसे में जो हवा में ज़हर घोलेगा, वह सबसे बड़ा हत्यारा हुआ. प्लास्टिकों को जलाने से डायॉक्सिन, फ़्यूरान, पारा व पॉलीक्लोरीनेटेड बायफिनाइल जैसे रसायन हवा में घुल रहे हैं.

लोग चिन्तित है कि कैंसर क्यों बढ़ रहे हैं. लोग सोच रहे हैं कि शादी के इतने सालों बाद भी माँ-बाप बनने में समस्या क्यों आ रही है. लोग ऑटिज़्म से परेशान हैं, लोग अपने बीमार यौन-जीवन से हैरान हैं. लेकिन पड़ोस में सौ मीटर की दूरी पर नियम की ऐसी-तैसी करके कोई कूड़ा जला रहा है.

कूड़ा जलाना रोकिए. यह कचरा-निस्तारण नहीं है, सामूहिक मरण-मारण है. यह आत्महत्या और सामूहिक हत्या दोनों है.

सेहत को खाने की संस्कृति

जंक बेचने वाली कम्पनियाँ ईटिंग-आउट का कॉन्सेप्ट बेच कर ललचाती हैं. खाना बनाते क्यों हो, ऑर्डर करो न! भारतीय अमेरिकी बनने की राह पर हैं. यानी जो गलतियाँ अमेरिकी कर रहे हैं-- हम उन्हें कर लेंगे, तभी सीखेंगे. हर पुरानी बात, हर पुरानी सोच खारिज करने के लिए खारिज करनी है, प्रगति के फ़लसफ़े के ज़बरदस्ती कुतर्क गढ़ने हैं.

खाना बनाने और खाना बाहर खाने में बड़ा अन्तर है. कोई उपलब्धि आप पाइए, लोग पार्टी माँगेंगे. कहिए कि खाना घर पर होगा, आइएगा. घर पर खाना बनाया जाएगा, तो हैरत में पड़ जाएँगे. इतनी मेहनत भी आज-कल करता है कोई! स्विगी और ज़ोमैटो किस दिन काम आएँगे!

मैकडॉनल्ड, बर्गर किंग, डॉमिनोज़, पीत्सा-हट, स्विगी और ज़ोमैटो को पर्यावरण की फ़िक्र नहीं है, उनकी मुनाफ़े पर नज़र है. उन्हें मालूम है कि लोग जीभ के लालची हैं और कमज़ोर भी. इन्हें स्वाद बेचो. सस्ते स्वाद को पाने के लिए ये कुछ भी करेंगे. इनमें इतनी विवेकशीलता और दूरदृष्टि होती, तो फिर बात ही क्या थी!

औसत अमेरिकी बड़ा हिस्सा खाना बाहर खाकर पैसे उड़ा रहा है. जो बाहर खाएगा, जंक ही खाएगा. हम भी जंक की लत पर पैसे उड़ाना सीख रहे हैं. जीडीपी की चहक यहीं तो दिखती है; आर्थिक विकास मॉलों की रात्रिकालीन जगमग से ही तो नापा जाता है! पेड़ थोड़े और कटते हैं, तो कट जाएँ! जानवर थोड़े और घटते हैं, तो घट जाएँ! पृथ्वी गर्म होगी, तो मैं कौन सा देखने के लिए जियूँगा पचास साल बाद!

समझदारी के लिए आग से हाथ जलाकर आग को नहीं समझा जाता. यह प्रयोगात्मकता नहीं, नासमझी-नादानी कहलाती है. खाना बनाना हर स्त्री-पुरुष को आना चाहिए और उसे बनाना चाहिए. पार्टी में सबको बुलाना ज़रूरी नहीं, न पार्टी देना-खाना इतना अत्यावश्यक है. उत्सव-उल्लास के और भी बेहतरीन ढंग हैं, जिन्हें अपनाया जा सकता है.

ईटिंग-आउटलेटों में बेचा रहा है खाना हानिकारक है, महँगा भी. वह हमारी सेहत भी खाएगा और हमारा पर्यावरण भी.

भूखे बच्चों की पुकार

"मान लो तुम्हें भूख लगी है और घर में खाने को कुछ है नहीं. मम्मी-पापा ने तय किया कि वे अभी बाज़ार जाते हैं और कुछ राशन लेकर आते हैं. लेकिन वे बाज़ार पहुँचते हैं, तो देखते हैं कि वह बन्द हो चुका है. ऐसे में वे आगे बढ़ते हैं ... दूसरे बाज़ार की ओर. वहाँ भी सब बन्द. फिर वे और आगे बढ़ते हैं. नतीजा फिर कुछ नहीं. हर बाज़ार जहाँ वे पहुँचते हैं, बन्द मिलता है. घर पर बच्चे बहुत भूखे हैं. घर वापस लौटने की बजाय वे राशन की तलाश में बढ़ते-बढ़ते घर से हटते जा रहे हैं." मैं ईशान्-ऋद्धिमा को कहानी सुना रहा हूँ.

" अगर वे घर न पहुँचे तो?" ऋद्धिमा का प्रश्न है.

"अगर वे घर न पहुँचे तब भी बच्चे भूखे रह जाएँगे. किन्तु अगर रोज़ इसी तरह मार्केट बन्द मिली तब? और फिर अगर वे घर का रास्ता ही भटक या भूल गये, तब?"

"तब तो बच्चे भूख से मर जाएँगे."ईशान् उदास हुआ जाता है.

"बिलकुल! यही हो रहा है किंग पेंग्विनों के साथ. अंटार्कटिका की दूसरी सबसे बड़ी पेंग्विन-प्रजाति के ये पक्षी सब-अंटार्कटिक द्वीपों पर अपने अण्डे देते हैं. ये द्वीप अंटार्कटिका से थोड़ा उत्तर की ओर हैं, जहाँ तापमान कम ठण्डा रहता है. फिर मम्मी-पापा बारी-बारी से अण्डों की रखवाली करते हैं, उन्हें सेते हैं. और फिर जब उनसे चूज़े निकलते हैं, तब ज़रूरत पड़ती है भोजन की. एक अभिभावक चूज़े के पास रुकता है और दूसरा भोजन के लिए समुद्र में गोता लगाता दक्षिण की ओर बढ़ता है. मछलियाँ, क्रिल, स्क्विड --- जो मिल जाए."

"यह समुद्री भोजन उन्हें कहाँ मिलता है?"

"वहाँ जहाँ अंटार्टिका के आसपास का ठण्डा पानी उत्तर के गर्म पानी से मिलता है. ठण्डा पानी नीचे को जाता है और गर्म ऊपर रहता है. यह जलीय सरहद अंटार्कटिक कन्वर्जेंस या अंटार्कटिक ध्रुवीय फ्रंट कहलाती है. वह सीमा जहाँ किंग पेंग्विनों के लिए भोजन प्रचुर है और यहाँ ये शिकार करके भोजन के साथ वापस अपने घरों को लौटते हैं, जहाँ भूखे चूज़े इंतज़ार में हैं."

"फिर?"

"फिर इस कहानी में हम-तुम आ जाते हैं. इंसान. हम प्रदूषण करते हैं, पृथ्वी को गर्म करते हैं. नतीजन पेंग्विनों की वह जलीय अंटार्कटिक-सीमा और नीचे दक्षिण की ओर जाने लगती है. यानी पेंग्विनों को शिकार के लिए ज़्यादा दूर जाना पड़ता है अपने घरों से.

घर में बच्चे भूखे हैं. खाना चाहिए लेकिन वह दूर-से- दूर होता जा रहा है."

"फिर?"

"इससे किंग पेंग्विनों की आबादी पर ख़तरा मँडरा रहा है. उनके बच्चे भूखे दम तोड़ रहे हैं, क्योंकि वे समय से भोजन जमा कर के वापस नहीं लौट पा रहे."

"ओह!"

"इतना ही नहीं पृथ्वी के गर्म होने से इन पेंग्विनों के अण्डे देने की जगह बदल रही है. अगर ये अंटार्कर्टिका से थोड़े उत्तरी द्वीपों पर अण्डे देते हैं, तो वहाँ गरमी बहुत है और दक्षिण की ओर अंटार्कटिका के पास देते हैं तो वहाँ सर्दी तेज़ पड़ती है. उनके अण्डों के लिए एक सन्तुलित तापमान बीच का है, जिससे मनुष्य छेड़छाड़ में लगा है."

"हम-लोग इन बेचारे पक्षियों के लिए क्या कर सकते हैं?"

"हम यह प्रयास कर सकते हैं कि ग्रीन-हाउस-गैसों का उत्सर्जन कम-से-कम करें. गाड़ियाँ न फ़ालतू खरीदें, न बिना-ज़रूरत चलाएँ. सरकारों को चाहिए कि पब्लिक-ट्रांसपोर्ट बेहतर करें और उसे प्रोत्साहित भी. रात-भर 18 डिग्री पर एसी चलाकर रखने से भी पेंग्विनों को परेशानी होती है, जानते हो? ऐसा क्या एसी गर्मी में कि रात को कम्बल ओढ़ना पड़े! जहाँ सम्भव हो, उसे अकारण इस्तेमाल न करो."

हम्म्म. दोनों बच्चे गहरी सोच में डूबे हैं. किंग पेंग्विन से एसी तक, उसके भूखे चूज़ों से सड़कों पर हर साल बढ़ती गाड़ियों तक. उन्हें लगता है कोई उन्हें दूर दक्षिणी द्वीपों से आवाज़ दे रहा है: "मम्मी, मैं भूखी हूँ! पापा, मैं भूखा हूँ! कितनी देर हो गयी! खाने लेकर कब आएँगे आप!"

विज्ञापन का अंधविश्वास

अशुद्ध : यह शाकाहारी पानी क्या होता है?

शुद्ध : वही जिसमें मांस न हो.

अशुद्ध : मांस किसे कहते हैं?

शुद्ध : किसी भी पशु या पक्षी के जीवित-मृत सम्पूर्ण शरीर को या उसके भाग-अनुभाग को मांस कहा जाता है.

अशुद्ध : और जो न पशु हो, न पक्षी-- उसके शरीर को क्या कहा जाए? मांस? जैसे पेड़? या कोई पौधा?

शुद्ध : न, उसे मांस नहीं कहा जाता.

अशुद्ध : तो फिर जीवाणुओं के शरीर को क्या कहना चाहिए? वे जिनके शरीर एककोशिकीय हैं और जो न पेड़-पौधे हैं और न जानवर?

शुद्ध : जीवाणु तो एकदम अलग हैं. वे भिन्न प्रकार के प्राणी हैं.

अशुद्ध : क्या जीवाणुहीन होकर जिया जा सकता है? एकदम बैक्टीरिया ही न हों कहीं: न भीतर, न बाहर!

शुद्ध : नहीं जिया जा सकता. यह सम्भव ही नहीं है.

अशुद्ध : तो फिर यह विज्ञापन कैसा है पानी का, जो शाकाहारी पानी देने का वादा कर रहा है?

शुद्ध : यह विज्ञापन भारतीय जनमानस की विज्ञान-साक्षरता की उपहासीय परीक्षा है. जितने इसमें फ़ेल हों, उन्हें रोगी जानिए. यह जीवाणु नहीं निकाल रहा, उनकी मृत देहों को भी साफ़ करने का वादा कर रहा है. शवहीन जल.

शवहीन जल! शवहीन जल! शवहीन जल!

(दोनों ठहाके मारकर बड़ी देर तक बिना रुके हँसते हैं.)